योगेश 'प्रवीन'

सीमान्त प्रकाशन
दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

'मां'
के चरण कमलों में समर्पित
जिनसे मुझे ही नहीं मेरे क़लम
को भी ज़िंदगी मिली है

अनुक्रमणिका

लखनऊ के उत्तर-मध्यकालीन इतिहास में श्री योगेश प्रवीन को विशेष रुचि रही है। नवाबी ज़माने की इमारतों के सम्बन्ध में उनकी जानकारियों ने विशेषता सिद्ध की है। हिन्दी की प्रायः सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में उनके नवाबी लखनऊ से सम्बन्धित लेख छपते ही रहते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने अपने प्रिय विषय को बड़ी रोचक शैली में सँजोया है। योगेश ने उर्दू लिपि में प्रकाशित ऐतिहासिक सामग्री का खुले हृदय से सदुपयोग किया है, इसलिए जो इतिहास-प्रेमी पाठक केवल अंग्रेज़ी भाषा में विदेशी साम्राज्यवादियों के द्वारा लिखे गये विवरणों से ही परिचित हैं, उन्हें इस पुस्तक में सिक्के का दूसरा पहलू भी नज़र आयेगा। यह सच है कि लखनऊ की नवाबत-बादशाहत का सही इतिहास न तो दरबारी क़िस्म के भारतीय लेखकों ने लिखा है और न अंग्रेज़ों ने ही। ईमानदार इतिहास शोधकर्त्ता को सत्यासत्य के इन्हीं दो दुर्गम पहाड़ों के बीच से अपनी साँकरी गैल खोजनी पड़ती है। इस प्रकार के जिज्ञासुओं के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

चौक, लखनऊ

इतिहास जब तथ्यों का निरा आकलन मात्र करता है तब वह बोझिल और नीरस हो जाता है, पर जब वह उस युग के अश्रु-हास, दुःख-सुख, मान-अपमान, राग-द्वेष आदि मानवीय संवेदनाओं से जुड़ जाता है तो इतना सरस और स्पृहणीय हो जाता है कि पाठक को उस युग तक, उन अनुभूतियों तक ले जाकर कुछ अनुभव करने, आप्लावित होने के लिए छोड़ देता है। ऐसा इतिहास न तो कथा-कहानियों की रोमानी कल्पना लगता है और न नीरस घटना-चक्रों का विवरण मात्र। वरन् यह वह शाश्वत सत्य होता है जो देशभाव सीमाओं से परे मानव-मन को सदैव आन्दोलित करता रहता है।

अवध के इतिहास का उत्तर-मध्यकाल जनमानस के लिए विशेष आकर्षण रखता है परन्तु उसके प्रस्तुतीकरण की जो राजनीतिक शैली रही उसमें उसके प्रमुख तथ्यों का लोप होता गया और कमोबेश में वह विवाद का विषय बनता गया।

श्री योगेश प्रवीन ने 'दास्ताने अवध' में इतिहास को सरस और जीवन्त बना दिया है। अवध के उत्थान-पतन की व्यथा-कथा एवं उससे प्रभावित अवध की माटी और अवध के खँडहरों की कहानी मन को कहीं गहरे तक छूती है। वे अपने इस विषय के अधिकारी ही नहीं, विद्वान एवं सफल रचनाकार हैं। इस इतिहास को उनकी रोचक शैली, उसी धरातल से जुड़ी हुई उनकी भाषा और उनके अथक शोध ने ऐसा सँवारा है कि वह जनरुचि की विषयवस्तु बन गया है। सच कहा जाय तो उन्होंने लखनऊ की मृतप्राय सभ्यता-संस्कृति व तहज़ीब को जीवन्त, बना दिया है।

'दास्ताने अवध' का प्रत्येक अध्याय अपने विषय में पूर्ण है। सर्वाङ्ग अति सुन्दर है और अद्वितीय है। पाठक अपने इस लोकप्रिय लेखक की इस कृति का हार्दिक स्वागत करेंगे। इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

साकेत पल्ली नरही
लखनऊ-२२६००१

—भइयाजी

अतीत की ओर देखना, मानवमात्र को रुचिकर लगता है—फिर अवध का अतीत, जिस महिमा से प्रोद्भासित रहा है, उसका एक अनोखा ही आकर्षण है।

'दास्ताने अवध' में योगेश ने स्वच्छ दर्पण में अवध के अतीत का स्वच्छ प्रतिबिम्ब प्रस्फुटित किया है। किस प्रकार लखनऊ उन्नीत हुआ, किस प्रकार धीरे-धीरे प्रासाद-नगरी बना, कैसा तत्कालीन समाज था, कैसी उसकी रूपरेखा थी—पाश्चात्य संस्पर्श का उस पर कैसा प्रभाव पड़ा, अर्थनीति के क्षेत्र में क्या परिवर्तन हुआ, वहाँ के नवाब उनका चाल-चलन, उनकी सनक, उनका विलासप्रिय स्वभाव, सुन्दरी बेगमें, कुटिल राजनीति की असिधार में चमकती वारांगनाएँ निर्वीर्य ख़्वाजासरा, नवीन धनी, इन सबके विषय में योगेश ने परिश्रम से लिखा है—कहीं भी कथाचित्र भाराक्रांत नहीं हुए हैं। परिवेशना में, ग्रंथकार ने पाठकों का कौतूहल अंत तक बनाये रखा है। एक-एक अध्याय एक-एक सम्पूर्ण चित्र है। अपने वक्तव्य को योगेश ने केवल शहर के उत्थान-पतन तक ही सीमित नहीं रक्खा है। लखनऊ नगरी कैसे अंग्रेज़ों की प्रधान कर्मकेन्द्रभूमि बन गई थी और कैसे उनकी अनायास प्राप्त सिद्धि ने ऐश्वर्य-स्फीत नवाबों को भी मसल कर मिट्टी में मिला दिया, इसका रोचक वर्णन करने में योगेश सफल रहे हैं।

मुझे विश्वास है, कि साधारण पाठकों में भी यह पुस्तक साग्रह गृहीत होगी।

६६, गुलिस्तां
लखनऊ

—शिवानी

प्रस्तावना

अवध का इतिहास अपने विविध संस्कृति संगम के लिए सिद्ध-प्रसिद्ध है। इस सर-ज़मीन ने करवट-करवट किसी न किसी क्रान्ति को जन्म दिया है। कर्त्तव्य, प्रेम, रोमांच, आनन्द, व्यंग्य आदि जीवन सम्बन्धी इन सभी प्रमुख विषयों पर अवध का अपना अलग मौलिक योगदान रहा है। इस सिलसिले में यदि कोई बात मन को कुरेदती है तो ये कि प्राचीन तथा गहरे विवरणों को विस्मृत करके अवध की 'नवाबी' आनबान को ही सदा प्रतिष्ठा दी गई।

मुझे अवध तथा उसके मुख्य सांस्कृतिक केन्द्र लखनऊ के अध्ययन में विशेष रुचि होने के बावजूद उसके ऐतिहासिक कलेवर से कभी सन्तुष्टि नहीं हुई। विभिन्न फ़िरक़ों से सम्बन्धित इतिहासविदों ने कभी धार्मिक तो कभी राजनीतिक भेद-भावना के कारण उसके प्रस्तुतीकरण के साथ न्याय नहीं किया जिससे न केवल सही तत्त्वों का अभाव ही रहा वरन उसका रग भी नही जम सका।

इसी विचार से कोई इतिहासकार बनने की इच्छा से नहीं वरन् जनमानस तक अपनी अनुभूतियों का सुखद स्पन्दन पहुँचा देने से मुझे विशेष आत्मतृप्ति हुई है। इस सन्दर्भ में मैंने इतिहास की बोलती और अनबोलती सभी तस्वीरों को नज़दीक से पढ़ना चाहा है। लिपि, वचन एवं अनुभव इन तीनों तारों की झंकार से इस कृति में सहजता, सरसता एवं सत्यता को यथास्थान बनाये रखने का प्रयास किया है। यहाँ अवध की राजधानियों को केन्द्रबिन्दु मानकर उनके सन्दर्भ में ही घटनाक्रम रखा गया है।

इस धरती की गंगा-जमुनी संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को शीर्षकबद्ध करके मैं यहाँ उसी विषय पर कुछ कह रहा हूँ।

—योगेश 'प्रवीन'

'पँचवटी'
८९, गौसनगर
लखनऊ-२२६०१८

लक्ष्मणावती

लखनऊ का जन्म जिस लखनावती से हुआ उस लखनावती का नाम प्राचीन काल में लक्ष्मणपुर था। लक्ष्मणपुरी न सिर्फ़ कोसल प्रदेश का पश्चिमी दुर्ग-द्वार था बल्कि अपने पुरातन अस्तित्व के कारण एक सनातन तीर्थ भी माना जाता था। आदि गंगा गोमती के द्वारा पद प्रक्षालित इस पवित्र स्थल को उस युग मे 'छोटी काशी' कहा जाता था।

हमारी आजादी के पहले लखनऊ का जितना भी इतिहास लिखा गया चाहे वह मुस्लिम हुकूमत की तवारीख़ी किताबें हों या ब्रिटिश शासन काल के (लखनऊ) गजेटियर हों, हरएक में लखनऊ के ज़िक्र से पहले दावे के साथ इस बात को दोहराया गया है कि भगवान रामचन्द्र जी महाराज के छोटे भाई लक्ष्मण जी ने इस नगर को बसाया था। लेकिन जब हम स्वतंत्र हो गये तो हमारे विश्वासों में कुछ बल आ गया और हमने लखनऊ के इतिहास पर भ्रम की लकीरें खींचना शुरू कर दी और उसे कुछ इस तरह लिखने लगे, "ऐसा कहा जाता है कि इस शहर को लक्ष्मण जी ने बसाया था।"

प्रसिद्ध पुस्तक 'लखनऊ : पास्ट एण्ड प्रेजेण्ट' के लेखक इक़रामुद्दीन क़िदवई पुरातत्त्वविद् भी थे और इतिहासवेत्ता भी। उन्होंने लिखा है कि "लक्ष्मण के पुराने नगर जिसे लक्ष्मणपुर, लखनपुर या लखनावती कहते हैं जिसका प्रचलित अपभ्रंश लखनऊ है, का मूल स्थान लक्ष्मण टीला है।"

लक्ष्मण टीले को ही लक्ष्मण दुर्ग का खँडहर बताया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि लक्ष्मण टीले में पर्त-दर-पर्त ईसा पूर्व के हज़ारों वर्ष तक का इतिहास छुपा पड़ा है और टीले से प्राप्त खिलौनों, फलक, मृद्भाण्डों तथा अन्य सामग्री से प्रमाणित भी किया जा चुका है। लक्ष्मण टीले की ही विशाल परिधि के कुछ हिस्से पर शेख़ों का किला मच्छी भवन बना, नवाबी में बड़ा

इमामबाड़ा बना और ब्रिटिश काल मे मेडिकल कालेज की बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी की गयीं।

शेष तीर्थ : लक्ष्मण टीला प्राचीन समय मे ही तीर्थस्थान बन चुका था, इस टीले के शिखर पर एक शेष कूप तथा मंदिर था। इस शेष कूप के लिए प्रसिद्ध है कि यहाँ दूर-दूर से तीर्थयात्री आते थे और पुष्प-पत्र तथा नैवेद्य इसी कूप में चढ़ाते थे। उनका विश्वास था कि इस पातालतोड़ कुएँ में चढ़ाया गया पत्र-पुष्प धरणीधर भगवान शेष को प्राप्त होता है। त्रेता युग में रामानुज लक्ष्मण शेषावतार थे, इसलिए उनकी नगरी में उनके यथार्थ अस्तित्व का इस प्रकार पूजन-अर्चन होना स्वाभाविक भी था। यहाँ हम इस बात का उल्लेख करना आवश्यक समझेंगे कि काठियावाड़ के प्रभास क्षेत्र में हिरण्या नदी के किनारे श्रीकृष्ण देहोत्सर्ग तीर्थ है। उसी के निकट एक गुहा मंदिर है जिसके द्वार पर सहस्रफणि भगवान शेष भित्ति-शिल्प में अंकित हैं और यह बलरामजी का प्रयाण-स्थल है। इस प्रकार द्वापर युग के शेषावतार बलभद्रजी का पूजन भी वहाँ उसी रूप में होता है।

लखनावती के लक्ष्मण टीला मंदिर की सिद्धि-प्रसिद्धि दूर-दूर तक थी और इसी मंदिर तथा गोमती तट के कारण यह स्थान छोटी काशी के नाम से विख्यात हुआ। यह स्थल हिन्दुओं का शाश्वत श्रद्धा-केन्द्र था। यह बात केवल ऐतिहासिक पुस्तकों से ही प्रमाणित नहीं होती, इस बात से भी सिद्ध होती है कि मुग़ल शासक औरंगज़ेब ने शेष तीर्थ को नष्ट करके ही उसके स्थान पर आलमगीरी मस्जिद बनवायी। अपने लखनऊ भ्रमण के दौरान उसने लक्ष्मण तीर्थ की जब यह महिमा देखी तब ही उसने अवध के तत्कालीन गवर्नर सुल्तान अली शाह कुलीख़ान को मंदिर ध्वंस का आदेश दिया था। ऐसा ही उसने मथुरा के कृष्ण जन्म-भूमि मंदिर के साथ किया था और वाराणसी के विश्वनाथ मंदिर के साथ भी किया। इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण कटरा केशव की तथा ज्ञानवाणी की आलमगीरी मस्जिदें हैं। इस तरह ये तीनों मस्जिदें मिलकर यह साबित करती हैं कि उस ज़माने में लखनावती का महत्त्व तीर्थ के रूप में मथुरा, काशी से कम न था।

सन् १८८१ के लखनऊ गज़ेटियर के अनुसार लखनऊ जनपद के बहुत से क़स्बे और गाँव पौराणिक काल से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के तौर पर 'नागराज नहुष' से नगराम, बाणासुर की बेटी ऊषा से रुखा, चित्रलेखा से कुम्हरांवा, बाणासुर के पार्षद केसरी दैत्य से केसरमऊ, मांडव्य ऋषि के नाम से मडियाँव आबाद हैं। श्रीकृष्ण अपने पौत्र अनिरुद्ध को ढूँढ़ते हुए यहाँ आये थे। जनमेजय का प्रसिद्ध 'नागयज्ञ' यहीं हुआ था और जो जागीर उन्होंने पंडित जगदेव को दान में दी थी उसी का नाम जुग्गौर हुआ। यहाँ तक कि लखनऊ का कुड़िया-घाट कौण्डल ऋषि का आश्रम माना जाता है। इस सारे जनपद से कुषाण युग

तथा गुप्तकाल की तमाम विष्णु-मूर्तियाँ, शिवलिंग तथा देवी विग्रह समय-समय पर प्राप्त होते रहे हैं। यहाँ के सूर्यकुण्ड भी इतिहास-प्रसिद्ध रहे हैं। सूर्य-कुण्ड के मेले का ज़िक्र अनेक पुस्तकों में हुआ है और आज भी उनके अवशेष एवं परम्पराएँ जीवित हैं।

लखनऊ के देवी मंदिर : लखनऊ नगर से १६ मील दूर उत्तर-पश्चिम में नैमिषारण्य की तरफ़ गोमती तट पर एक सिद्ध देवी-पीठ है। हर अमावस्या को यहाँ हजारों की भीड़ होती है।

मंदिर के नाम पर टीले पर अब एक छोटा-सा मठ ही है लेकिन यह स्थान नैसर्गिक सुषमा से सम्पन्न है। प्राचीन हिन्दू इतिहास और जन-विश्वास की दृष्टि से यह तीर्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सीता परिहर के वाल्मीकि आश्रम में थीं जो स्थान अवध (कोसल राज्य) का सीमावर्ती भाग है। लक्ष्मण जी के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार चन्द्रकेतु अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा लेकर जब इस धेनुमती तट के पलाश वन में से होकर जा रहे थे तो उन्हें अमावस्या की एक अँधेरी रात्रि में यहाँ विश्राम करना पड़ा। शिविर से निकलकर उन्होंने उस घोर अन्धकार में अपनी माता रानी उर्मिला के द्वारा दक्षिण भुजा पर बाँधे गए जन्त्र का स्मरण किया और उनके ही दिए गए देवी रक्षा-मंत्र का विधिवत पाठ किया जिसके परिणामस्वरूप उस तिमिर निशा मे उनके शिविर के चारों ओर चन्द्रिका (चाँदनी) छिटक गई। उसी आलोक-पुज में भगवती ने अनुग्रह करके चन्द्रकेतु को दर्शनामृत का पान कराया। राजकुँवर ने विनत होकर देवी-पूजन किया। उसी विशेष पुनीत स्थल पर कुमार ने इस सिद्ध पीठ का निर्माण किया तथा शक्ति का वह रूप चन्द्रकेतु की 'इष्टचन्द्रिका' देवी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मंदिर को १२वीं सदी में विध्वंस किया गया जब सुप्रसिद्ध बुतशिकन सैयद सालार मसूद ग़ाज़ी अपनी फ़ौज के साथ पश्चिम से लखनऊ जनपद में आया। आज भी मंदिर के उन खंडित विग्रहमों को पिण्डी रूप में पूजे जाते देखा जा सकता है। इसी तरह पंजाब के तमाम पुराने देवी मंदिरों में भी देवी विग्रह के स्थान पर पिण्डी पूजने की प्रथा मिलती है क्योंकि पंजाब सदा से आततायियों का पहला पड़ाव होता था।

लखनऊ क्या सारे अवध में देवी मंदिरों की भरमार है लेकिन लखनऊ के देवी मदिरों का अपना अलग इतिहास है। इस नगर के पुराने क्षेत्र में तमाम देवी मंदिर है जो काफी पुराने है लेकिन उनके देवी विग्रह तो और भी बहुत पुराने हैं। बौद्ध काल में ब्राह्मण धर्म का पतन हुआ जिसका प्रभाव इस इलाक़े पर भी पड़ा। चौक का बड़ी काली का मंदिर भी किसी समय में बौद्ध मठ के रूप में था। जब शकराचार्य दिग्विजय के लिए निकले तो इस स्थान पर उन्होंने विष्णु तथा शिव विग्रहों की स्थापना की और यह लक्ष्मी-नारायण मंदिर कहा जाने लगा।

नवाबी में देवी मंदिरों को अधिक संरक्षण प्राप्त हुआ, इसलिए लखनऊ के मालियों ने लक्ष्मी-नारायण विग्रह में काली की प्रतिष्ठा करके इसे देवी मंदिर घोषित कर दिया। इसी तरह शीतला देवी का मंदिर भी जानकीनन्दन राजकुमार लव द्वारा प्रतिष्ठित बताया जाता है और उस मदिर में शुंगकालीन प्रतिमाएँ भी मिली हैं। मसानी (श्मशानी) देवी का मंदिर भी बड़ा पुराना तथा प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त श्मशानी मदिर मथुरा जैसे तीर्थ पर ही मिलता है। यहाँ आज भी बुध की चौकी भरी जाती है और प्रसाद में कौड़ियाँ मिलती है। छोटी काली का मंदिर भी भगवती के मणिलोचन विग्रह के लिए विख्यात है। यह अद्वितीय अष्ट-भुजी श्रीमूर्ति भी धरा-गर्भ से प्राप्त हुई थी। इन तमाम देवी मंदिरों में वासन्ती और शारदीय नवरात्रों को मेले लगते हैं, चूड़ाकर्म संस्कार होते है और गठजोड़े से नये ब्याहे दूल्हा-दुल्हन लाये जाते हैं।

शिव मंदिर : लखनऊ मे कुछ शिव मंदिर इतने प्राचीन और प्रामाणिक है कि उनकी ख्याति दूर-दूर तक है। यहाँ का कोणेश्वर महादेव मंदिर रामायण-कालीन बताया जाता है। पुराने लखनऊ में स्थित इस मंदिर का नाम ही अनोखा है। कोणेश्वर रावण के इष्ट शंकर का नाम था। रावण ने लक्ष्मण को नीति-शिक्षा दी थी, इसलिए हो सकता है उसने कोणेश्वर तांत्रिक उपासना के विषय में भी कुछ कहा हो जिसके आधार पर लक्ष्मणावती में कोणेश्वर महादेव की स्थापना हुई। रानी कटरे के पुराने शिवालय का विशाल शिवलिंग, जो रुद्र लिगों से आच्छादित है, अपने ढंग का अनोखा और तंत्रपद्धति का शिव मंदिर है। प्रत्येक प्राचीन शिव मंदिर में पंचदेव विग्रहमों (शिव, पार्वती, गणेश, सूर्य, विष्णु) की परम्परा मिलती है तथा अरघे की जलहरी उत्तरमुखी होती है। इस शास्त्रीय नियमों को भी भंग करने वाला एकान्त मुद्रा का शिवलिंग, जो गौरी-गिरीश के मिलन का प्रतीक है, लखनऊ नगर में है। इस मंदिर मे अन्य देवताओं की उपस्थिति में वर्जित है।

लखनऊ के मनकामेश्वर, बुद्धेश्वर तथा सिद्धेश्वर, महादेव मदिर भी बड़े पुराने हैं, जन पूजित हैं तथा मनोवाछनापूरक हैं। इस जनपद मे नवाबी काल में राजा नवल राय तथा राजा टिकैतराय द्वारा बनवाए गए ऐतिहासिक मदिर हैं। कुम्हरावां का अति प्राचीन शिव मंदिर, राजा इटौंजा का शिव मदिर तथा मोहनलालगंज का भव्य शिवालय भी दर्शनीय है।

हनुमान मंदिर : आर्य द्रविड़ एकता के प्रतीक दक्षिणमूर्ति रुद्रावतार हनुमान की आराधना समस्त उत्तर भारत में होती है जिस प्रकार आर्य श्रेष्ठ भगवान राम दक्षिण भारत में व्याप्त हैं। यह भावना हमारे राष्ट्रीय एकता के मूल सूत्रों में से एक है। लेकिन जैसी हनुमत उपासना लक्ष्मण के नगर लखनऊ में लोकप्रिय है, राम की राजधानी अयोध्या में भी नहीं। लखनऊ में महावीर मंदिर बहुत बड़ी

संख्या में हैं और इनमें से कुछ बहुत प्राचीन है। बड़ा मगल यहां का प्रधान त्यौहार है जो चतुर्मास ज्येष्ठ का पहला मंगल होता है और यह मेला जेठ के सारे मगलों तक चलता रहता है।

यहाँ का अलीगंज का पुराना महावीर मदिर मुस्लिम शासक घराने की एक बेगम का बनवाया हुआ है और इस बात की पुष्टि मंदिर कलश के शिखर पर बने हुए अर्द्धचन्द्र से होती है। इसके पास ही जटमल का बनवाया हुआ प्रसिद्ध पुराना हनुमान मदिर है। इसके अतिरिक्त छाछू कुआँ का मंदिर भी बहुत प्राचीन है। इस विशिष्ट स्वयंभू विग्रह मदिर मे गोस्वामी तुलसीदास जी का आना भी प्रमाणित है। आज भी लखनऊ अमीनाबाद और संकटमोचन के महावीर मदिरों मे मंगल के दिन दर्शनार्थियों की भारी भीड़ मिलती है।

लखनऊ अपनी गगा-जमुनी सभ्यता के लिए तो प्रसिद्ध है ही, इसे साम्प्रदायिक एकता का तीर्थ भी कहा जाना चाहिए क्योंकि यहाँ पर हिन्दू राजाओं के बनवाए हुए मस्जिद, इमामबाड़े है तो मुस्लिम नवाबों के बनवाए हुए मंदिर और शिवाले भी हैं।

जैन मंदिर तथा बौद्ध सभ्यता के अवशेष : सनातन मंदिरों के अतिरिक्त लखनऊ हिन्दू जैन तीर्थ भी माना जाता है। पुराने लखनऊ से प्राप्त जैन प्रतिमाएं बारहवीं सदी से भी पहले की प्रमाणित हो चुकी हैं। उनमें से कुछ दिगम्बर जैन मूर्तियाँ संग्रहालय में देखी जा सकती हैं। नगर में १५ श्वेताम्बर जैन मंदिर है। यवनकाल में ध्वस्त किए गए कुछ मदिरों की जैन प्रतिमाओं को पुन: नए मंदिरों में प्रतिष्ठित किया गया। १५वीं सदी से १७वीं सदी के बीच यहाँ अधिकतर जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। जौहरी बाग़ लखनऊ के जैन मंदिर भी बहुत प्रसिद्ध है। चूड़ी वाली गली (चौक) में स्थित पद्मप्रभु जी का मंदिर भी जैन आस्था का केन्द्रबिन्दु माना जाता है। कहा जाता है १७वीं सदी तक दूर-दूर से जैन यात्री लक्ष्मणावती तीर्थ के लिए आया करते थे।

लखनऊ का बुद्धेश्वर महादेव मन्दिर भी बौद्ध मठ का परिवर्तित रूप माना जाता है। इसी जनपद में मोहनलालगंज के निकट हुलास खेड़ा नामक गाँव में जो उत्खनन कार्य हुआ है उसने तो लखनऊ की प्राचीनता को पूर्णतः सिद्ध कर दिया है। इस क्षेत्र में खुदाई से पुराने भवनों के अवशेष बर्तनों के टुकड़े, मृण्मूर्तियाँ तथा अन्य सामग्री उपलब्ध हुई हैं जिससे यहाँ के ईसापूर्व के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

इतिहास की गवाही

इतिहास की काल-पर्तें एक-दूसरे पर कुछ इस तरह चढ़ती जाती हैं कि हर अगला दौर पिछले दौर पर कुछ न कुछ परदा डालता जाता है। लखनवी इतिहास के साथ भी ऐसा ही हुआ। लखनऊ के इतिहास के नाम पर नवाबी के चाँद-तारे कुछ ऐसे जगमगा उठते हैं कि बस उसके पीछे के ज़माने को आँख उठाकर देख पाना मुश्किल हो जाता है।

लखौड़ी की वो लखौड़ी चूने की इमारतें जो इण्डोसिरेसेनिक अदा में मुस्करा रही है यहाँ की सिगनेचर बिल्डिग बनी हुई हैं, अगर हम इनके पीछे कुछ ढूँढ़ने की कोशिश करें तो शेखज़ादों का लखनऊ हमें दिल्ली सल्तनत की कुछ खिचडी इमारतों में से झाँकता हुआ नज़र आएगा और इन मध्यकालीन इमारतों में गुप्तकालीन हिन्दू सभ्यता के नगीने जड़े हुए मिलेंगे। दिल्ली में ग़ुलाम वंश की स्थापना काल से मुग़लों की दिल्ली उजड़ने तक लखनऊ शेखों का लखनऊ रहा। इन छः सदियों में सरज़मीने अवध में आफ़तों की वो-वो आँधियाँ आईं कि हज़ारों बरस पहले वाली सभ्यता पर झाड़ू फिर गई। नतीजा ये हुआ कि वो चकनाचूर हिन्दू सभ्यता या तो तत्कालीन मुस्लिम इमारतों में तक़्सीम हो गई या फिर लक्ष्मण टीला किला मुहम्मदी नगर और दादूपुर की टेकरी में समाधिस्थ होकर रह गई और यही कारण है कि लखनऊ तथा उसके आस-पास के मन्दिरों में खण्डित मूर्तियों के ढेर लगे हुए हैं।

लखनऊ के शेख़ज़ादे कच्चे मकानों में रहते थे और उनके सूफ़ी आलिम नीम के नीचे डेरा डाल देते थे। इसलिए लखनऊ में शेख़ पीरियड की इमारतों के नाम पर सिर्फ मस्जिदें, दरगाहें या मक़बरे ही हैं।

दिल्ली सल्तनत के खिलजी, तुग़लक, लोदी और फिर आलमगीरी हुकूमत में बुतशिकनी के हौसले अच्छी तरह पूरे किये गये और देश के दूसरे महत्त्वपूर्ण

स्थानों की तरह लखनऊ जनपद के हिन्दू मन्दिरों की ईंट से ईंट बजायी जाती रही। लखनऊ अंचल में उनई की कात्यायिनी (९वी सदी), अरम्बा के विष्णु (मौर्य काल), अमानीगंज के वाराह (मौर्यकाल), दिलबंशी का शिवलिंग (१०वीं सदी) और डिगोई की गोमती प्रतिमा (१२वी सदी) तो उस व्यथा कथा के सिर्फ़ कुछ प्रमाणित एव उल्लेखनीय उदाहरण हैं। वैसे पूरे जिले में क्षतविक्षत देव-विग्रहो की भरमार है।

अब सवाल ये था कि कालिंजर और मिर्ज़ापुरी पत्थरों के वो गुप्तकालीन प्रस्तर स्तम्भ, देवालयों के नागर कला मण्डित द्वार-देहरी-तोरण-धनुष तथा मन्दिरों के जगमोहन क्या किये जाते। पत्थरों का ये जो कुछ हिन्दू स्थापत्य था वो अपनी रचना प्रणाली के कारण इस्लाम में हराम ज़रूर था लेकिन शेखज़ादों की तगदस्ती और जल्दबाज़ी का तक़ाज़ा कुछ और ही था। शेख़ज़ादे लड़ाकू क़ौम जरूर थे लेकिन न दौलतमन्द थे और न दरियादिल— यही कारण है कि उनके मकानात कभी पक्के न हुए और जो 'गढ़ी मच्छी भवन' उनकी सभ्यता का केन्द्रबिन्दु था वो भी लखनाकोट के माल-मसाले से ही बनाया गया था। उस पर न बहुत कारीगरी ख़र्च की गई थी और न पैसा। अगर क़िला मच्छी भवन बहुत पुख़्ता ही होता तो २ जुलाई १९५७ की रात सर हेनरी लारेंस के हुक्म पर कर्नल पामर बारूद की एक ठोकर में सारी क़िलेबन्दी को मिट्टी का मलबा न बना देते। शहर के मोहम्मदी नगर इलाक़े में शेख़ों का दूसरा किला जलालाबाद इसी सदी मे देखते-देखते मिट्टी का टीला बन गया है। बहरहाल पत्थर की हिन्दू कमानों का मोह छोड़ सकना शेख़ज़ादों के बस के बाहर की बात थी, इस-लिए गुप्तकालीन उन तमाम हिन्दू तोरणों के आसपास की गढ़ियाँ तोड़कर लाई गई विभिन्न ईटों मे पहनाकर फ़क़ीरों के मक़बरे खड़े किये और फिर उन पर तत्कालीन दिल्ली चलन के गुम्बदो की टोपियाँ रख दी गईं। उसके बाद भी कुछ माल-मसाला बच गया तो उन सूबेदारों रिसालदारों और अहलकारों ने अपने वास्ते पेशगी मक़बरे बनवा लिए, इसलिए इस तरह की खिचड़ी इमारतें पूरे लखनऊ जनपद मे जहाँ-तहाँ नज़र आती हैं।

लखनऊ की ये ख़ास तर्ज़ वाली इमारतें जिस दौर का प्रतिनिधित्व करती है उस दौर की दास्तान शुरू होती है जब मशहूर बुतशिकन महमूद गजनवी का भतीजा, हरात का रहने वाला सैयद सालार मसूद ग़ाज़ी अपने सिपाहियों के साथ पच्छिम की तरफ़ से भागता हुआ लखनऊ आया। इस जनपद में पाँव धरते ही उसे पहली कसमण्डी (मलिहाबाद) के रजवासी राजा कंस से लड़नी पड़ी। इस जबरदस्त जंग में उसके दो बेटे सैयद सालार हातिम और सैयद सालार क़ासिम मारे गये। इन दोनों के साथ जो सिपाही इस जेहाद (धर्मयुद्ध) में काम आये वो सबके सब 'गंज शहीदां' मलिहाबाद में दफ़न हैं। इसी तरह उन

जेहादियों को एक कठिन मुक़ाबला लखनऊ में लखनाकोट के नीचे करना पड़ा। यहाँ की जंग में मारे गए सैयद सालार के साथी लखनऊ के सोबतिया बाग़ मे सो रहे हैं। जहाँ नौ-नौ गज़ की क़ब्रें आज भी मिलती हैं। ये क़ब्रें किसी नौ गज़ के इंसान की न होकर बड़ी तादाद में मारे गये सिपाहियों की सामूहिक समाधियाँ हैं और ऐसे ही ठिकानों को 'गंज शहीदां' कहा जाता है।

इस आमद-बरामद का नतीजा ये हुआ कि पच्छिम की तरफ़ से एक रास्ता खुल गया और फिर बिजनौर तथा रामनगर के शेख़ पठान लखनऊ जनपद मे मलिहाबाद और शहर की हरी नीमों के नीचे 'निमहरे' में आबाद होने लगे। इस अतिक्रमण का सबसे पहला निशाना लखनावती के सुप्रसिद्ध 'शेष तीर्थ' को बनाया गया। इस वक़्त दिल्ली पर तुगलकों का शासन था, अगर अयोध्या के राम जन्म-भूमि पर कलन्दशाह ने डेरा डाल दिया था तो यहाँ शेख़ों के सरगना और शाहमीना साहब के शागिर्द शाह मुहम्मद ने लक्ष्मण टीले पर बिस्तर बिछा दिया। अपने जीवन-काल में वे शेष कूप तीर्थ को तो नष्ट नही कर सके लेकिन उनकी मृत्यु के बाद उन्हें उसी टीले पर दफ़न कर दिया गया तो यहाँ के शेख़जादे उसे 'लक्ष्मण टीला' न कहकर 'मुहम्मदशाह का टीला' कहने लगे। टीले पर बोया गया वो बीज चार सौ बरस बाद फला-फूला जब औरंगजेब लखनऊ आया और उसने अपने गवर्नर सुल्तान अलीशाह कुलीख़ान के द्वारा गोमती तट की छोटी काशी के उस सुप्रसिद्ध मन्दिर को तोड़कर आलमगीरी मस्जिद बनवा दी। लक्ष्मण टीले पर खड़ी इस औरंगज़ेबी मस्जिद के सर पर आज भी राजपूती छतरियों के ताज रखे हैं और मस्जिद के गोशों में मन्दिर के स्थापत्य की झलक मौजूद है।

शेरशाह सूरी के राज्यकाल में जबकि सारे उत्तर भारत में सराय और कुएँ बनवाये जा रहे थे शेख़ पठानों के गढ़ मलिहाबाद मे बारहखम्भा-छतरी और शाही मस्जिद का निर्माण हुआ। ये कुल इमारतें ग़ाज़ी मसूद द्वारा ध्वस्त 'गढ़ी मल्ली' के भग्नावशेषों पर बनवायी गई। इनके साथ की बावली उस गढ़ी की प्राचीन बावली है जिस पर नया घाट बँधवाकर उसे नई रूपरेखा दी गई। घाट के ये पत्थर भी मन्दिर की दीवारों के अश है। पुरानी गढी के निकट ही दिल्ली के राजघराने का एक परिवार आकर बस गया था जिसकी मस्जिदें और मक़बरे पुराने टीले पर बनते चले गये। ये सारी की सारी इमारतें बड़ी रहस्यपूर्ण हैं। यहाँ की एक मस्जिद के नीचे तहख़ानों और सुरगों का अजीब सिलसिला है जो इतिहास को पर्त-दर-पर्त जोड़ता है।

मलिहाबाद के ये दोनों मक़बरे लोदी स्टाइल के गुम्बद ओढ़े हुए हैं और फ़ारसी लिपि के शिलालेख के अनुसार सन् १५६० के आस-पास बनवाये गये ज्ञात होते है। इन सबमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इमारत है 'छतरी बारहखम्भा'

जिसमें गिनती के बारह प्रस्तर स्तम्भ लगे हैं। ये सबके सब खम्भे रजपासी राजा कंस की गढ़ी कसमण्डी (कंस मण्डप) के मन्दिर से लाये गये हैं। इन स्तम्भो पर गुप्तकालीन मन्दिरों के विशिष्ट बेल-बूटों के डिज़ाइन आज भी देखे और पहचाने जा सकते है। चूँकि मन्दिर पहले ही नष्ट कर दिया जा चुका था और उसकी अधिकाश सामग्री कसमण्डी के शेख़ों के मज़ारों में इस्तेमाल की जा चुकी थी, इसलिए ये खम्भे भी एक जैसे न होकर अलग-अलग ढंग तथा डिज़ाइनों में है और जबरदस्ती जोड़े गये मालूम होते है।

लखनऊ जनपद का दूसरा शेख़ानी क़स्बा काकोरी है। ईसा की बारहवीं सदी तक नागों का नगर 'कर्कोटक पुरी' भारशिवों का गढ़ रहा है और कन्नौज के राजा इसकी देखभाल करते थे। सन् १२०२ में जब कुतुबउद्दीन ऐबक ने मुहम्मद बख़्तयार खिलजी को हाकिम सरदार लश्कर बनाकर पूरब में भेजा तो उसने लखनऊ के पश्चिम में बख़्तयार नगर बसाकर वहाँ पठानों को आबाद कर दिया। भारशिवों के ज़ोर को दबाने के लिए दिल्ली से दूसरा दस्ता सुल्तान शम्सुद्दीन अल्तमश ने मलिक नसीरुद्दीन के मातहत भेजा। उसी ने छोटी-छोटी गढ़ियों के मालिक भरों की आपसी फूट का फ़ायदा उठाकर दिल्ली की हुकूमत यहाँ क़ायम कर दी, जो मुहम्मद तुगलक के वक़्त तक बनी रही। सन् १३९३ में जौनपुर की शर्क़ी सल्तनत ने 'कर्कपुरी' पर अपना सिक्का जमा लिया लेकिन भरों ने उन्हें जल्दी ही उखाड़ फेंका और फिर यहाँ राजा काकोर का क़िला बनकर तैयार हो गया। सन् १४०१ में जौनपुर के तीसरे बादशाह सुल्तान इब्राहीम शर्क़ी ने मानिकपुर के निकट राजा काको को पराजित किया और फिर यहाँ १४५८ तक जौनपुर पर कब्ज़ा बना रहा।

सन् १४५८ में राजपूत बेस राजा रोहितास का बेटा राजा शान्तनु (साथन या सतहना) काकोरी का अधिकारी बना। राजा साथन ने लखनऊ को पठानों के चंगुल से छुड़ाने के लिए भी कई हमले किये और वो लड़ाइयाँ साल भर तक चलती रही जब तक कि वह वीरगति को (सन् १४५९) प्राप्त नहीं हो गया। सन् १४६० से काकोरी फिर सुल्तान हुसेन शर्क़ी जौनपुर की जागीर बन गया। सन् १४७८ में राजा साथन के बेटे ने काकोरगढ़ पर फिर अधिकार प्राप्त किया और १० बरस तक उसके बेटों ने इस गढ़ी पर राज्य किया।

सिकन्दर लोदी के ज़माने में काकोरी में क़ाजी-बहारी-अब्बासी यहाँ आकर बसे और यहाँ पर ख़ूब साम्प्रदायिक दंगे हुए। इस बीच पुराने मन्दिरो और गढ़ियों को बराबर तोड़ा जाता रहा। किसी तरह इस स्थिति को शेरशाह सूरी ने सँभाला। उसके वक़्त में कुछ फ़क़ीरों ने आकर यहाँ बसना शुरू किया उनमें सबसे पहले सलीमशाह यहाँ आए और उनके बाद क़ारी अमीर सैफ़ुद्दीन के साहबज़ादे मख़्दूम निज़ामुद्दीन अपने कुल क़बीले के साथ यहाँ आकर रहने लगे। ये

मुस्लिम सन्त यहाँ की निम्नवर्णी जनता को इस्लाम धर्म की दीक्षा देने की गरज से भेजे गए थे और इन तमाम सूफ़ियों की दरगाहों के कारण ही काकोरी को 'काकोरी शरीफ़' भी कहा जाने लगा।

काकोरी की कुछ इमारतों में १६वी सदी के पूर्वार्द्ध में बना 'झँझरी रोज़ा' सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। दिल्ली सल्तनत की छत्रछाया मे मिले-जुले देहलवी स्थापत्य से बना यह मक़बरा देखने योग्य है। सारी इमारत लाल चौड़ी ईंटों से बनी है जो कई ढंग तथा विभिन्न आकारों की है। ये कुल ईंटें रोहितास के क़िले से उतारी गई थी। इस मक़बरे का दरवाज़ा तो बड़ा ही इंटरेस्टिंग है। देवी मन्दिर का ये बादामी पत्थर का प्रवेशद्वार सुन्दर कटावदार तोरण से सुसज्जित है और उसे ज्यों का त्यों दीवार में पहना दिया गया है। मक़बरे मे जहाँ-तहाँ देवालय-स्तम्भ लगे है। उनमें एक मे गजमुख तथा कमल का फूल बड़ी ख़ूबसूरती से बना हुआ है। मक़बरे की सीढ़ियों पर भी मन्दिरों के प्रस्तर खण्ड लगे हुए है। आईनए-इस्लाम के विपरीत ये हिन्दू आकृतियाँ इस मक़बरे की निर्माण कथा विस्तार से सुनाती हैं। इस मक़बरे में बादशाह अकबर के दामाद तथा बेटी की क़ब्रें हैं तथा बाहर अहाते में हज़रत मख़्दूम मौलाना क़ारी अमीर तथा मख़्दूम मुन्ना अब्दुल करीम बग़दादी का रोज़ा है। शेख़ भीखमशाह तथा सुल्तान गुलरत के मक़बरे में भी इसी प्रकार का खिचड़ी निर्माण है।

सम्राट जहाँगीर के शासन काल में ही लखनऊ के मनसबदार शेख़ अब्दुर्रहीम ने इन्तक़ाल फ़रमाया। उनका मक़बरा और उनके बाप रहमत उल्ला शाह का मक़बरा निदान महल के नाम से मशहूर है। शेख़ मुइनुद्दीन चिश्ती अजमेरी के भांजे रहमत उल्ला शाह का मक़बरा तुगलक स्थापत्य पर बना है इस मन्दिर में लगे हुए कंकरीट-ब्लाक बड़ी प्राचीन सभ्यता के प्रमाण है। रोमन सभ्यता के पतन काल में कंकरीट मार्टर से ढाले गए ये कंकरीले ब्लाक लखनऊ के निकट नगराम (नागर ग्राम) के भारशिवों के क़िले से उतार कर लाये गए थे। इस रौज़े के प्रवेश में दोनों तरफ़ हिन्दू मन्दिरों के प्रस्तर खण्ड लगे है, जिन पर बने हुए सुन्दर बेल-बूटे ध्यान देने योग्य है।

शेख़ अब्दुर्रहीम और उनकी बीवी का मक़बरा और उसके साथ की क़ब्रग्राह लाल बलुए पत्थर के एक गुप्तकालीन शिव मन्दिर को दो भागों में बाँटकर बनवाई गई है। मन्दिर के १२ पहल वाले सुन्दर नागर कला-उत्कीर्ण खम्भों में से २० मक़बरे के बरामदे में चारों तरफ चुने हुए हैं और १२ भीतरी दीवार में लगा दिए गए हैं। १६ खम्भों वाला मन्दिर का ख़ूबसूरत जगमोहन कुछ दूर हटाकर खड़ा किया गया है जिसमें उनके परिवार वालों का तक़िया है। जहाँगीरी गुम्बद और सीकरी स्टाइल वाली इन इमारतों में बने हुए गजमुख, कमलपुष्प, नागफन, घंटियाँ आदि अनेक हिन्दू शिल्प आज भी अपनी हक़ीक़त सुना रहे है।

इन इमारतों के पायों पर कालपी-पत्थरों पर सुराहियां और ईरानी गुलदस्ते बना-कर जोड दिए गए है और उन्हें इस्लामी जामा पहनाने की नाकाम कोशिश की गई है। स्मरण रहे कि नादान महल के ये कुल मक़बरे लखनऊ की तत्कालीन धनवन्ती 'किसना महराजिन' के बाग मे बनवाए गए है।

औरगजेब के शासन काल में लखनऊ का गवर्नर सुल्तान अलीशाह कुलीखान हुआ जिसने लक्ष्मण टीले का शेष मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनवाई थी। नूर-बाडी स्थित इसी सूबेदार के मक़बरे मे शेष तीर्थ-मन्दिर की एक देहरी चौखट आज भी देखी जा सकती है और यही उस तीर्थ का एकमात्र स्मृतिचिह्न है। औरंगज़ेब के साथ ही दिल्ली का दबदबा समाप्त हो गया और उसके बाद अवध मे नवाबी क़ायम हो गई। ईरानी रक्त वाले इन इमामिया नवाबों के सरपरस्त सादतखां बुरहानुलमुल्क ने लखनऊ मच्छी भवन के शेखान दरवाजे पर आतक की प्रतीक रेशम की डोर मे लटकती उल्टी नंगी तलवार को काटकर हमेशा के लिए फेक दिया। और उसके साथ ही खण्डन-मण्डन का ये दौर समाप्त हो गया। लखनऊ की नवाबी तो हिन्दू-मुस्लिम आपसी मेल-जोल की अनूठी मिसाल है जिसमे किसी की सभ्यता का हनन नही किया गया बल्कि एक-दूसरे के तर्जो-तरीको को इस तरह से अपनाया गया कि उस गगा-जमुनी तहज़ीब को दुनियावाले 'लखनवी तहज़ीब' के नाम से पुकारने लगे।

हरी नीम से लाल इमली तक

शहर लखनऊ में नीम और इमली के घने सायेदार दरख़्त अजब रफ़्तार में क़तार-दर-क़तार मिलते हैं और इनके इलाक़े के क़रीब-क़रीब बँटे हुए हैं। गढ़ी मच्छी भवन (मेडिकल कालेज स्थल) से जो नीम के पेड़ मिलने शुरू होते है तो शाह मीनासाहब से गोमती के किनारे सूरज-कुण्ड तक और छाछीकुआँ से रौज़ाबाग़ (राजेन्द्र नगर) की तक़िया तक इनका सिलसिला जारी रहता है। ये नीम के दरख़्त दसवीं सदी से सोलहवीं सदी तक के ज़माने के सही नुमाइन्दे है। इनमे से कुछ दरख़्त तो इससे ज्यादा पुराने हैं। हरी नीम वाला ये कुल इलाक़ा निमहरा कहा जाता था और इसी के साये में बिजनौर, रामनगर के शेख़ पठानों की बस्ती आबाद हुई थी। निमहरा बोलचाल में नबहरा बन गया और वह शेख़जादे नवहरे पठान कहे जाने लगे।

दूसरी तरफ़ कोठी फ़रहतबख़्श से जो इमली के दरख़्तों का सिलसिला शुरू होता है तो चाइना बाज़ार गेट से शाहनजफ़ रोड तक और कोठी हयातबख़्श से दिलकुशा बाग़ तक पहुँच गया है। ये उन दो सदियों का तहज़ीबी काफ़िला है जिसे नवाबी युग कहा जाता है। नवाब सआदतअली ख़ाँ के वक़्त में यह कुल इलाक़ा आबाद हुआ था और ये सारे इमली के दरख़्त उसी ज़माने में लगाए गए थे। मशहूर है—सआदतअली ख़ाँ को जो हुक़्क़े से इश्क़ हुआ तो उसकी सटक सल्तनत की आख़िरी शमां बेगम हज़रतमहल के हाथों तक से न छूटी। जब हुक़्क़े का शौक़ लखनऊ में आम हो चला तो उसी के हिसाब से इमली का कोयला कसरत से दरकार हुआ। उस जमाने में आयात-निर्यात की न बहुत सुविधा थी और न उस पर लोगों का यक़ीन था। हर उद्योग, हर काम को अपने ही शहर में क़ायम किया जाता था। कारीगर दिल्ली से लेकर मुर्शिदाबाद तक से आते थे और यहीं आबाद हो जाते थे। इसलिए जनाब हुक्के की फ़रियाद पर लखनऊ में

ही कोयले की हरी खानें लगा दी गई और वह सच्चा कोयला सदियों लखनऊ वाली की चिलम मे फुँकता रहा, दहकता रहा।

बीते हुए कल में जिस तरह नीम वाला इलाक़ा 'नबहरा' कहा जाता था, ब्रिटिश पीरियड में इमली वाला ख़ास इलाक़ा (फ़रहतबख़्श-कोठी से कोठी नूर-बख़्श तक) 'ला-प्लास' के नाम से मशहूर था। नीम की निमकौरियों, टरउवों और दतूनों की बाते तो गुजरे वक़्त के साथ गुजर गई, हाँ स्कूली लड़के अपने लड़कपन मे हज़रतमहल पार्क की इमली तोड़ने-खाने जरूर जाते है। इसमें कोई शक भी नही कि नवाबी की इमली बहुत चटपटी रही, लेकिन नीम तो ठहरी कड़वी नीम, नीम के ज़माने में जो कुछ हुआ उससे लखनऊ शहर में शहर की सभ्यता और यहाँ की जनता में एक अजब कडवाहट भरती चली गई।

ईसा पूर्व की दस शताब्दियों से दसवीं सदी ईसवी तक लखनऊ मे लक्ष्मणपुरी और लखनावती नाम से हिन्दू साम्राज्य के बहुत से रंग देखे। इस जनपद का चप्पा-चप्पा उन मृद्भाण्डों, मृण्मूर्तियों और अलग-अलग सभ्यताओं की उन ईंटों तथा ठीकरों से पटा पड़ा है जो इस स्थान से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ते है। मौर्य युग तथा गुप्तकाल की तमाम आकर्षक मूर्तियाँ या खण्डित देव विग्रह सारे जिले मे बिखरे हुए मिलते हैं जो या तो अब उत्तर-मध्यकालीन मन्दिरों में प्रतिष्ठित है या फिर राज्य सग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं।

इस बीस सदी के लम्बे दौर में लक्ष्मणपुरी पर सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी तथा नाग-वंशी राजाओं का राज्य रहा। उसके बाद लखनावती पर भारशिवों, गुर्जरों तथा प्रतिहार नरेशों का अधिकार रहा। इस काल तक लखनऊ को छोटी काशी की तरह पवित्र माना जाता रहा और अब तक लक्ष्मण टीले के आसपास ब्राह्मण, ठाकुर, कायस्थ और पासियों की बस्तियाँ आबाद थीं।

१३वी सदी तक लखनावती को लखनऊ बनाया जा चुका था। नीम के दरख़्तों के साथ-साथ बिजनौर के शेख़ज़ादों के मकान बनते चले गए और फिर उनके वंशज 'शेख़ नबहरा' या निमहरे के शेख़ कहे जाने लगे। इसी ज़माने में लक्ष्मण टीले पर शाह मुहम्मद ने अपना सिक्का जमा लिया और फिर वहीं उनकी मजार बनवाई गई। उनके ही उस्ताद शाहमीना साहब थे जो हिजरी ८७० अर्थात् १४५६ में जन्नतनशीन हुए और मच्छी भवन के क़रीब दफ़नाए गए। ये मच्छी भवन शेख़ों की मशहूर गढ़ी थी जिसका शेख़ान दरवाज़ा मशहूर भी था।

१६वी सदी में लखनऊ की जागीर मुबारक शाह लोदी के बेटे अहमद ख़ाँ को मिली। उसके बाद सिकन्दर लोदी ने लखनऊ पर अधिकार पाया। इस बीच बराबर हिन्दू धर्म और संस्कृति का इस क्षेत्र में दमन होता रहा और इस्लाम का प्रचार जोर-शोर से तेगों के साये में किया जाता रहा। शेरशाह सूरी के राज्य काल में एक अच्छा क़दम यह उठाया गया कि धार्मिक अतिक्रमण के बजाय सूफ़ी

सन्तों को भेज कर इस्लामी सन्देश पहुँचाया जाने लगा। अकबर के समय मे जवाहर ख़ाँ यहाँ का सूबेदार बना। उन्हीं दिनों मुइनुद्दीन चिश्ती अजमेरी के भाजे शेख़ इब्राहीम चिश्ती रहमत उल्ला शाह लखनऊ आए, जिन्होंने किसना महराजिन की कुल जायदाद पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया फिर उनके बेटे शेख़ अब्दुर्रहीम ने 'निदान महल' नाम से अपने पिता का मक़बरा बनवाया उसके साथ ही उन्होंने अपने लिए भी मक़बरा बनवाया। ये दोनों ही इमारतें हिन्दू सामग्री से निर्मित हुई हैं।

सन् १७३२ में नेशापुर ईरान का रहने वाला सआदत ख़ाँ बुरहानुलमुल्क बनकर लखनऊ आया जिसने शेख़ान दरवाजे पर आतक का प्रतीक बनकर लटकने वाली तलवार को काट कर फेंका। इसके साथ ही सूबा अवध में नवाबी की नीव पड़ गई। दिल्ली दरबार की तरफ़ से भेजे गए सूबेदार की इस नई नस्ल ने ग्यारह मसनदों से तख़्तनशीनी की जिसने सूबेदारी विज़ारत और फिर बादशाहत के दिन देखे। इस नवाबी तवारीख़ की सबसे अलग अहमियत यह रही कि इस दौर में तहज़ीब ने वो-वो अँगड़ाइयाँ लीं कि आपसी इत्तिफ़ाक़, क़ौमी, मेल-मिलाप और मिली-जुली सभ्यता की नई बुनियादें पड़ीं।

इमली की इन घनी छाँवों में लखनऊ वालों ने बेहद राहत महसूस की। उनके सारे गिले-शिकवे जाते रहे। पिछले दौर में तोड़े गए वे तमाम मन्दिर जिनकी मूर्तियाँ जगह-जगह दरख़्तों के साये में बिखरी पड़ी थीं फिर से नये जामे में उभरने लगे। यही वजह है कि लखनऊ ज़िले के लगभग सारे ही मन्दिर उत्तर-मध्यकाल के हैं जबकि उनमें स्थापित देव विग्रह बड़े विलक्षण और बहुत पुराने प्रमाणित होते हैं।

शेख़ों के वक़्त में बुतशिकनों ने बड़ी बेदर्दी से लखनावती की हिन्दू सभ्यता पर झाड़ू फेरी थी और शायद यहाँ की अमनपसन्द जनता इस दुर्व्यवहार के लिए तैयार नहीं थी। लेकिन नवाबी ने अपनी सभ्यता के वह रंग दिखाए और दोस्ती का हाथ कुछ इस तरह बढ़ाया कि हिन्दुस्तानियों के दिलों में इस्लाम और मुसलमानों के लिए जगह पैदा हो गई।

कहना न होगा कि इस ज़बरदस्त इन्क़लाब के लिए नवाबों ने ही पेशक़दमी की। उन्होंने अपने आपको सीधे अपनी रियाया से जोड़ लिया और आम इन्सान के दिल में अपने वास्ते गुँजाइश बना ली। नवाबों ने अपने दरबारों में वज़ीरों और नायबों में हिन्दुओं को भी बराबर की जगह दी और उन्हें भी उचित सम्मान दिया। नज़फ और कर्बला शियों की काशी है लेकिन लखनऊ के इन शिया हुक्मरानों ने लखनऊ में ही अपने वास्ते नज़फ़ और कर्बले बनवाए।

अवध के नवाब अपने इमामिया मज़हब पर अटूट श्रद्धा रखते हुए भी उसे हिन्दुस्तानी जामा पहना गए और इस तरह लखनऊ में अनोखी अज़ादारी क़ायम

हो गई। यहाँ अगर श्रीकृष्ण भगवान की छठी मनाई जाने लगी। होली पर ही रंग नहीं चलता था, 'नौरोज' पर भी रंग खेला जाता था। दीवाली की रात को ही रोशनी नही होती थी, आठवीं की रात भी जगमगाती थी।

दोस्ती का यह हाथ इस हद तक बढ़ा कि नवाब आसफ़ुद्दौला, फाग और धमारें गाते हुए कहारों के नाच में ख़ुशी से शामिल होते थे। शाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर जन्माष्टमी के मौक़े पर ठाकुरद्वारों मे जाते थे। बादशाह नसीरुद्दीन हैदर रामलीला के जुलूसों में पहुँचते थे। छतर मंज़िल में धूमधाम से सावन मनाया जाता था तो बसंत भी बड़े ठाठबाट का होता था।

जाने आलम ने तो जब अपनी साज ओ अदा की महफ़िलें सजायीं तो उसमें कृष्ण कन्हैया का रूप रखा या फिर क़ैसरबाग़ के जोगियाना मेले में मतवाला जोगी बनकर अलख जगाया।

इन सब दस्तूरों का जवाब दूसरी तरफ़ से कुछ इस तरह मिला कि हजरत हुसैन की शहादत में मनाया जाने वाला लखनऊ का मुहर्रम सारे जहान में निराला कहा जाने लगा। ताज़ियादारी में हिन्दू बराबर का हिस्सा लेने लगे जिसका प्रमाण आज भी नख़ास से उठने वाला जौ का हरा ताज़िया है जिसे हिन्दू ही उठाते हैं। नवाबों, बादशाहों और बेगमों ने मन्दिर बनवाए, जो अलीगज, टिकैतगंज, नवलगंज और सराय शेख़ में, आज भी सर ऊँचा किए खड़े हैं। इधर हिन्दू राजाओं, रानियों और महरियों तक ने मस्जिदें बनवाई जिनकी मीनारें आज भी आसमान छू रही है; अमीनाबाद, मौलवीगज, मेंहदीगंज और ठाकुरगंज में ये आज भी मौजूद हैं। मुस्लिम घरानों की स्त्रियाँ शीतला देवी का नीर और हनुमान मन्दिर से मंगल के फूल मुरादों में माँगने लगीं तो हिन्दू औरतें ताज़िए के नीचे से बच्चों को गुज़ारने लगी और बीमार औलादों के चेहरे पर नमाज़ियों से फूँक डलवाने लगी।

नवाब वाजिदअली शाह के वक़्त मे जितनी मस्जिदें बनीं उतने ही मन्दिर भी बने। तब ही तो उनकी महफ़िल में जब अंग्रेज़ों की साज़िश के तहत अयोध्या की एक मस्जिद का विवाद खड़ा किया गया तो उन्होंने बड़ी सादगी के साथ सिर्फ़ इतना ही कहा था—

"हम इश्क़ के बन्दे हैं, मज़हब से नहीं वाक़िफ़।
गर काबा हुआ तो क्या, बुतख़ाना हुआ तो क्या॥"

नवाबीने अवध

(भाग १)

अवध एक क्षेत्र, एक सूबे और एक ऐसे सांस्कृतिक प्रदेश का नाम है जो अपनी भाषा, संस्कृति तथा इतिहास के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध है। आज नेपाल सरहद और गंगा के बीच उत्तर प्रदेश के बारह उत्तर-पूर्वी जिलों के समूह को अवध की संज्ञा दी जाती है परन्तु रघुवंशीय साम्राज्य से लेकर दौरे हुकूमत नवाबीन तक अवध सूबे की भौगोलिक सीमाएँ समय-समय पर बदलती रही हैं।

मुग़ल काल में अवध को एक निश्चित सूबे का आकार प्रदान किया गया था—और इस सूबे के प्रबन्ध तथा मालगुज़ारी की वसूली के लिए दिल्ली तख़्त की तरफ़ से एक गवर्नर भेजा जाता था। औरंगज़ेब के वक़्त में अवध का गवर्नर सुल्तान अली शाह कुलीख़ान हुआ जो लखनऊ को अपना सदर मुक़ाम बनाकर लखनऊ में ही रहा करता था।

औरंगज़ेब के दूसरे बेटे बहादुरशाह प्रथम के दिल्ली दरबार में नैशापुर का रहने वाला एक ईरानी मिर्ज़ा नासिर नाम से नौकर था। मिर्ज़ा नासिर साहब सन् १७०८ में अपने साथ अपने दोनों बेटों को लेकर पटना भी गये थे···लेकिन बाद में यह परिवार ईरान लौट गया था उस समय मिर्ज़ा नासिर को शायद इस बात का सपने में भी सन्देह न रहा होगा कि उनके साथ पटना की सैर करने वाला उनका बेटा छोटा मोहम्मद अमीन आगे चलकर अवध की नवाबी नसल क़ायम करेगा।

(१) प्रथम नवाब सआदतख़ाँ बुरहानुलमुल्क (१७२०-१७३९)

फ़ारस के प्रसिद्ध सैयद सौदागर ख़ानदान के बेटे मोहम्मद अमीन इमाम

मूसे काजिम के ख़ानदान से माने जाते है। एक बार मोहम्मद अमीनसाहब अपनी ईरानी बीवी की कोई एक बात लग जाने पर घर से निकल कर हिन्दोस्तान की तरफ़ चल पडे और फिर ऐसा निकले कि लौटकर कभी ईरान का मुँह न देखा। हिन्दोस्तान आने पर बादशाह फ़र्रुख़सियर ने सैयद मो० अमीन का शानदार स्वागत किया था।

उन्होंने हिन्दोस्तान आकर सबसे पहले गुजरात के नवाब सरबुलन्द ख़ाँ के यहाँ मुलाजिमत हासिल की। एक बार नवाब सरबुलन्द ख़ाँ के लिए एक शिकार का इन्तजाम करने के लिए इनकी तरफ़ से कुछ बदइंतज़ामी हो गई जिसका नतीजा यह हुआ कि बरसात का पानी शाही खेमों में भर गया और नवाब को रथ पर बैठे-बैठे पूरी रात काटनी पडी। इसी बात को लेकर इन दोनों मे कुछ ऐसी कहा-सुनी हो गई कि मुहम्मद अमीन नौकरी छोड़कर दिल्ली चले आए। यहाँ वे पहले १००० रुपये मासिक और फिर १८ लाख रुपये सालाना की तनख़्वाह पर १७ अक्टूबर १७१६ से १७२० तक फ़ौजदार रहे। दिल्ली आकर इन्होंने मुहम्मदशाह को बादशाहत दिलाई थी, जिसके लिए इनको बहादुरजग सालार की उपाधि दी गई और साथ ही आगरे का गवर्नर बनाकर भेज दिया गया। मोहम्मद अमीन साहब ने १७२० में एक बार बादशाह की जान भी बचाई और तब उन्हें सआदत ख़ा की उपाधि से विभूषित किया गया। नवाब सआदत ख़ाँ ने अब्दुल्ला खाँ सरगना सादाते बारहा को भी शिकस्त दी थी। इन्ही दिनों जब अवध मे बदइन्तज़ामी होने की ख़बर दिल्ली पहुँची तो सादत ख़ाँ को सन् १७३२ में बुरहानुलमुल्क का खिताब देकर अवध का सूबेदार बनाकर लखनऊ भेज दिया गया।

जिस वक्त नवाव बुरहानुल मुल्क सआदत ख़ाँ दिल्ली से लखनऊ तशरीफ ला रहे थे, रास्ते में एक नदी पार करते वक़्त पानी से एक मछली उछल कर उनके दामन में आ गई। इसको नवाब ने अच्छा शगुन मानकर मछली को वो मर्तबा दिया कि वह आज तक के अवध का प्रादेशिक चिह्न बनी हुई है। नवाब ने लखनऊ मे कोई इमारत अपने रहने के लिए नही बनवाई। वो शेख़ों के पंचमहल और मुबारक महल को किराए पर लेकर उसी में रहते थे, लखनऊ में उन्हे शेख-जादों से पूरी टक्कर लेनी पडी। उन्होंने दावत के बहाने शेख़ों को उनके किले से बाहर बुलाकर शेख़ान दरवाज़े की तलवार काट दी और क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया। ये तलवार जो कि क़िले के सदर फाटक पर रेशम से बँधी हुई उल्टी टँगी रहती थी, शेख़ज़ादों के आतंक का प्रतीक मानी जाती थी। शेख़ों के क़िला 'लिखना' को नवाब प्रथम ने ही मछली भवन का नाम दिया था। उन्होंने ही पुराने लखनऊ का सआदतगंज इलाक़ा आबाद किया जहाँ कभी बावन मण्डी और चौंसठ बाज़ारें आबाद थी।

सआदत ख़ाँ अक्सर अयोध्या मे भी रहते थे इसलिए उन्होंने वहाँ भी एक
सआदत ख़ाँ अकसर अयोध्या में भी रहते थे इसलिए उन्होंने वहाँ भी एक कच्चा क़िला बनवाया था। नवाब की एक शादी अकबराबाद के सूबेदार मो० नक़ी ख़ाँ की बेटी से हुई थी। इसी बेगम के साथ ख़दीजा खानम नाम की जो कनीज़ आई थी उससे नवाब के एक बेटी हुई जिसका नाम उन्होंने सदरुन्निसा रखा। यही बेटी अवध के अगले नवाब सफ़दरजग को ब्याही थी जो कि उनके उत्तराधिकारी बने, नवाब के एक बेटा भी हुआ था परन्तु बचपन में ही उसकी मृत्यु हो गई थी।

१७३९ में मोहम्मदशाह की हुकूमत में उनके ही देश के रहने वाले नादिर-शाह दुर्रानी ने दिल्ली पर हमला किया और वहाँ कत्लेआम होने लगा चूँकि इस सिलसिले मे उन्होंने नादिरशाह का पक्ष लिया था और जब इस ग़द्दारी का भेद खुलने की नौबत आई तो १९ मार्च १७३९ को उन्होंने ज़हर खा लिया और इज़्जत की मौत सो गए। मरने के बाद उन्हें दिल्ली की मिट्टी मे दफ़न किया गया लेकिन उसके बाद नवाब बेगम ने हकीम मिर्ज़ा मोहम्मद के हाथों उनकी हड्डियाँ इराक़ भेज दी।

(२) मिर्ज़ा अबुल मंसूरअली ख़ाँ सफ़दरजंग
(१७३९-१७५६)

मिर्ज़ा अबुल मंसूरअली ख़ाँ का असली नाम मोहम्मद मक़ीम था। वास्तव-में ये अवध के पहले नवाब के भतीजे थे, जिनको बाद में उन्होंने अपना दामाद बना लिया था और इस प्रकार अवध की सूबेदारी इन्हें विरासत में मिली थी। ये अधिकतर दिल्ली में दारा शिकोह वाले महल में रहते थे और उन दिनों इनके नायब राजा नवल राय अवध का काम देखा करते थे। उन्होंने ही लखनऊ में पहला शाही पुल बनवाना शुरू किया था क्योंकि लखनऊ में पत्थर के इस पुल से पहले लश्कर को गोमती पार उतारने के लिए दरिया पर हाथियों के पुल बाँधे जाते थे। राजा नवल राय नवाब के बड़े प्रिय नायब थे और वो नवाब अहमद ख़ाँ बंगश की लड़ाई में मारे गए थे। कभी-कभी फ़ैजाबाद और लखनऊ में भी रहा करते थे। नवाब सफ़दरजंग नवाबीने अवध के कुल इतिहास मे इस बात की अकेली मिसाल है कि उन्होंने एक बेगम के अलावा किसी दूसरी औरत से सम्बन्ध नहीं रखा। लखनऊ मे रहने के लिए इन्होंने पंचमहल और मुबारक महल को पसन्द किया था और शेख़जादों से उन महलों को लेकर उसके बदले में सात सौ एकड़ ज़मीन के दो गाँव दे दिए थे। लखनऊ के दक्षिण में इन्होंने जलालाबाद का क़िला फिर से बनवाया था।

सन् १७४५ में अहमदशाह अब्दाली ने जब पंजाब पर हमला किया तो शाहे

देहली मोहम्मदशाह ने सफ़दरजंग को अपनी तरफ़ से लड़ने के लिए भेजा था, वहाँ मैदाने जंग में एक तीर उनकी आँख में लग गया जिससे उनकी एक आँख जाती रही फिर भी वे बहादुरी से लड़ते रहे और जीत कर लौटे। लेकिन जब ये युद्ध में विजय प्राप्त करके लौट रहे थे तो पानीपत में उन्हें मुहम्मदशाह के मरने की ख़बर मिल गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि उन्होंने अपने घोड़ों की बाग़ लखनऊ की तरफ़ मोड़ दी। सन् १७४७ में इन्हें अपनी सूबेदारी का काम बख़ूबी निभाने और दिल्ली सल्तनत की तरफ़ से जंग में बहादुरी दिखाने के लिए नवाब वज़ीर का ख़िताब अता फ़रमाया गया, और तब के जमायते-उल-मुल्क अबूअल मंसूर ख़ाँ बहादुर सफ़दरजंग के नाम से मशहूर हुए और इस तरह ये अवध के प्रथम नवाब वज़ीर हुए। एक बार जब ये अपने अवध इलाके में पापड़-घाट में पड़ाव किए हुए थे। दिल्ली के बादशाह ने इन्हें चुपके से बुलवाया। ये वहाँ से दिल्ली की तरफ़ रवाना हो गए लेकिन रास्ते में ५ अक्टूबर १७५६ को बुख़ार आ जाने से खत्म हो गए। उस वक़्त बड़ी होशियारी से काम लेकर इनकी बेवा नवाब बेगम लाश को फ़ैजाबाद ले आयी। लाश को कुछ दिनों तक गुलाब बाड़ी फैजाबाद मे सिपुर्द ख़ाक रखा गया, फिर दिल्ली मे ही इन्हें दफ़नाया गया क्योंकि दिल्ली उन्हें बहुत प्यारी थी और वहाँ नवाब के मज़ार पर शिल्पकार सईद हलालख़ाँ की निगरानी में बीस लाख की लागत से लाल और सफ़ेद पत्थरों का एक ख़ूबसूरत मक़बरा बनवाया गया जो आज भी सफ़दरजंग के मक़बरे के नाम से मशहूर है।

(३) नवाब जलालुद्दीन हैदर 'शुजाउद्दौला' (१७५६-१७७५)

नवाब शुजाउद्दौला, शहज़ादा दारा शिकोह के महल में जनवरी १७३२ में पैदा हुए थे क्योंकि उस ज़माने में इनके माता-पिता अधिकतर दिल्ली में ही रहा करते थे। सन् १७४५ मे इनकी शादी बड़े धूमधाम से दिल्ली में ही वज़ीर ख़ानदान की एक लड़की से हुई थी और उस शादी में ४६ लाख रुपया ख़र्च हुआ था, और इनकी यही बीवी बाद में अवध के इतिहास में 'बहू बेगम साहिबा' नाम से मशहूर हुई थी। २४ वर्ष की आयु में ही नवाब शुजाउद्दौला तख़्ते सल्तनत के हाकिम बने और फिर उन्होंने फ़ैज़ाबाद में ही रहना अधिक पसन्द किया। अपने जीवन-काल में नवाब ने कोई विशेष निर्माण कार्य नहीं किया सिवा इसके कि उन्हें कई लड़ाइयों में शिरकत करनी पड़ी। फ़र्रुख़ाबाद की जंग के बाद जब वो बंगाल के मीर क़ासिम का पक्ष लेकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरुद्ध लड़ने गए तो २३ अक्टूबर १७६४ को बक्सर में उन्हें एक ज़बरदस्त हार का मुँह देखना पड़ा। इस पराजय के बाद १६ अगस्त १७६५ को उन्होंने जो संधि स्वीकार

की उसके अनुसार नवाब को पचास हजार पौण्ड का जुर्माना भुगतना पड़ा।

इसके बाद कम्पनी सरकार ने दिल्ली के बादशाह शाहे आलम द्वितीय से छीनकर कड़ा और इलाहाबाद का इलाका नवाब शुजाउद्दौला को दे दिया और इस उपहार के बदले में ५० लाख रुपये ऐंठ लिए। इस घटना के साथ ही अवध में ब्रिटिश रेज़ीडेंट का सूत्रपात हुआ और उसकी नियुक्ति होने लगी जिसकी सलाह और सम्मति के बिना अवध के नवाब कोई काम नही कर सकते थे।

कहा जाता है कि नवाब शुजाउद्दौला की माँ नवाब बेगम ने गर्भवती होने की दशा में जो ख्वाब देखा था वो नवाब की मृत्यु के सिलसिले में बिलकुल सही उतरा। नवाब शुजाउद्दौला की आयु जब ४४ साल से ऊपर हो गई तो उनके रान की जड़ में एक ऐसा दाना निकला जो ठीक न हुआ। बड़े-बड़े इलाज किये गये लेकिन वो नन्हा-सा दाना मौत का पैग़ाम बनकर २६ जनवरी १७७५ की रात को दो बजे नवाब की ज़िन्दगी की नाव ले डूबा।

शुजाउद्दौला की इच्छा के अनुसार उन्हें फ़ैज़ाबाद की गुलाब बाड़ी में ही दफ़न किया गया जहाँ उनके मज़ार पर उनकी बेवा बहू बेगम ने एक शानदार मक़बरा बनवाया।

(४) नवाब मिर्ज़ा अमानी 'आसफ़ुद्दौला' (१७७५-१७९७)

नवाब वज़ीर आसफ़ुद्दौला अवध के तीसरे हाकिम नवाब शुजाउद्दौला के बड़े बेटे थे। इनका बचपन का नाम मिर्जा अमानी था। सन् १७७५ मे नवाब आसफ़ुद्दौला अवध के शासन की बागडोर सँभालते ही अपनी माँ बहू बेगम से नाराज़ होकर फ़ैज़ाबाद से लखनऊ चले आए थे और तभी से लखनऊ अवध की मुस्तकिल राजधानी बन गया।

नवाब आसफ़ुद्दौला ने चूँकि तख़्ते सल्तनत की मसनद का तबादला अपनी मरज़ी से किया था, इसलिए उनकी विधवा माँ बहू बेगम उनसे नाराज़ थी और वो अपने बेटे के साथ लखनऊ नहीं आईं। ये दिल शिकनी बढ़ती ही चली गई और इस हद तक पहुँच गई कि वारेन हेस्टिंग्ज की चालों में आकर उन्होंने अपनी माँ और दादी को लूट लेने की कोशिश की जो बेशुमार दौलत और जागीरों की मालकिन थी। यही वो दुखद घटना थी जो आसफ़ुद्दौला के दामन का दाग़ बन गई। २१ मई १७७५ मे अवध के शासकों और कम्पनी सरकार के बीच जो अगली संधि हुई उसके अनुसार नवाब दिल्ली के बादशाह की कोई बात बिना अंग्रेज बहादुर के मशविरे के नही मान सकते थे और इसलिए रेजीडेंट के अलावा एक नया फिरंगी एजेण्ट १८,००० रुपये मासिक तनख़्वाह पर इनके दरबार में मुक़र्रर कर दिया गया।

नवाब को दिल्ली के वजीर ख़ानदान की बेटी शम्सुन्निसां ब्याही थी जो इनकी प्रधान बेगम थी। सन् १७६९ में ये शादी फ़ैज़ाबाद मे हुई थी और इस शादी की धूमधाम मे २४ लाख रुपया खर्च किया गया था। उनकी शादी में दिल्ली से शाह आलम और शोलापुरी बेगम भी आई थी।

नवाब आसफ़ुद्दौला को इमारतें बनवाने और बाग़ लगवाने का बड़ा शौक़ था उन्होंने लखनऊ में बहुत से महल बनवाए, बाग लगवाए और मुहल्ले बसाए। उनके वक़्त में लखनऊ एक गुलिस्तान की शक्ल में था और साथ ही साथ अद-बिस्तान भी बन गया था। नवाब को शेरो-शायरी से बड़ा लगाव था। उन्होंने अपने दरबार मे मीर, सौदा और सोज जैसे शायरो को पनाह दी थी। नवाब आसफ़ुद्दौला 'आसिफ़' नाम से खुद भी शेर कहते थे। उनकी लिखी ग़ज़लें, रुबाइयाँ और मसनवी मिलती हैं। नवाब के ज़माने मे होली और मुहर्रम बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था।

राजा टिकैतराय और राजा झाऊलाल नवाब के प्रसिद्ध नायब हुए है। उन्होंने अपनी पालकी के कहारों को भी दरबार मे नियुक्त कर रखा था। इन कहारों मे सबसे ज्यादा तक़दीर वाला था 'भवानी सिंह' जिसे 'राजा महरा' का ख़िताब अता फ़रमाया गया था।

लखनऊ की नवाबी में नवाब आसफ़ुद्दौला की शोहरत और सदाक़त के जो डंके बजे थे उसकी सबसे बड़ी दलील आसफुद्दौला का शानदार इमामबाड़ा है। कहा जाता है, सन् १७८४ के अकाल में उन्होंने अपनी बेकार और भूखी जनता को काम देने की ग़रज़ से बड़े इमामबाड़े का निर्माण करवाया था। इस इमारत को २२,००० लोगों ने एक करोड की लागत से ७ बरस में तैयार किया था। ये भी मशहूर है कि आसफ़ुद्दौला रोज सुबह सबेरे दीन-दुखियो को दान किया करते थे। खरबूजों में लाल रखकर ग़रीबों की झोली में डाल देने की अदा पर ही उनके नाम से ये कहावत प्रसिद्ध है—'जिसको न दे मौला, उसको दे आसफ़ुद्दौला' इंग्लैण्ड के बादशाह जार्ज तृतीय की एक ख़तरनाक बीमारी में उन्होंने एक डाक्टर अपने ख़र्चे से और २५,०००रुपये की दवाइयाँ इलाज के लिए हिन्दोस्तान से भेजी थी साथ ही ग़रीबों में उनके नाम की बहुत ख़ैरात भी बाँटी थी।

आसफ़ुद्दौला के समय में ही प्रसिद्ध फ्रांसीसी जनरल क्लाड मार्टिन लखनऊ दरबार में आया और फिर यहीं का होकर रह गया। आसफ़ुद्दौला ने अपनी कोठी के नज़दीक तमाम परिंद-चरिंद पाल कर पूरा अजायब घर बनवा रखा था। सवारियों में उन्हें पालकी सबसे ज्यादा पसन्द थी। कभी-कभी हाथी पर बैठकर शहर में हवाख़ोरी पर निकलते थे और दौलतख़ाना क़दीम से ऐशबाग तक जाते थे।

नवाब साहब अक्सर चौक वाली बारादरी में बैठकर पतंगों के पेच देखते थे।

फूलों से उनको बड़ा लगाव था और गुलाब पर तो जान छिड़कते थे। बर्फ़ और गुलाब उनकी कमजोरियाँ समझी जाती थीं। उनके दिन गुज़ारने के शग़ल अपने आपमें बड़े निराले हुआ करते थे। वो अक्सर बैठ कर चींटियों की क़तार से या मकड़ियों से खिलवाड़ किया करते थे। उन्होंने खेल ही खेल में अपने हाथी 'दल-बादल' की शादी 'बड़कनी' नाम की एक हथनी से करवा दी थी। दलबादल की बारात में १२०० हाथी बराती बनकर गये थे। इस शादी मे लाखों रुपया ख़र्च हुआ था।

जिस तरह मुग़ल बादशाहत में बादशाह अकबर को राजा बीरबल से बेपनाह मुहब्बत थी और उसको लड़ाई पर भेजे जाने के बाद वो ज़्यादा दिन नहीं जिये ठीक उसी तरह नवाबी में जब आसफ़ुद्दौला के नायब राजा झाऊलाल को बर्ख़ास्त करके अवध से निकाल दिया गया तो नवाब इस जुदाई का रंज बर्दाश्त न कर सके।

एक दिन उन्होंने अपने हकीम को बुलाया और बात ही बात में पूछ लिया कि वह कौन-सा मर्ज़ है जिसका कोई इलाज आपके पास नहीं है और वह किस तरह पैदा किया जा सकता है ? हकीम ने यों ही कह दिया कि पेट भर खाना और फिर तबीयत से नहाना यह मौत का आज़मूदा नुस्ख़ा है। बस फिर क्या था आसफ़ुद्दौला खाना खाकर उठते थे और चुपचाप दरिया गोमती पर घण्टों नहाते थे। इस तरह मर्ज़ ने वो हाथ-पाँव निकाले कि हकीम सादिक़ ख़ाँ भी सर पटक कर रह गये और उनका इलाज कामयाब न हो सका। नवाब को जलन्धर (जलोदर) की बीमारी हो गई। बेटे का यह हाल सुनकर बहू बेगम फ़ैज़ाबाद से दौड़ी आई वो आकर सुनहरे बुर्ज में ठहरीं और उम्र भर के गिले-शिकवे भुलाकर मरते हुए बेटे के मुँह पर अपने दामन की हवा देने लगी। जब दोनों आमने-सामने होते तो बहू बेगम बेअख़्तियार रोने लगती और नवाब की आँखों में भी आँसू टपकने लगते, यह ऐसी मजबूरियों का आलम था, जिसमें नवाब अपनी बूढ़ी माँ पर एक नया सितम तोड़कर जा रहे थे, और कोई ताक़त न थी जो उनको बचा सकने में कामयाब हो सकती।

२८ रबी १२१२ हिजरी जुमेरात के दिन अर्थात् २१ सितम्बर १७९७ के तीसरे पहर तीन बजे नवाब आसफ़ुद्दौला ने अपनी आँखें मूँद लीं।

मिर्ज़ा हसन रज़ा ख़ाँ के घर से उनका कफ़न आया और करबला की वो ख़ाके पाक लाई गई जिसमें नवाब को दफ़न होना था, वैसे कर्बले की इस मिट्टी का आयात आसफ़ुद्दौला के ही वक़्त में इस कसरत से हुआ था कि मैसूर नगर के सैकड़ों कोठे कर्बले की ख़ाक से लबालब थे।

नवाब आसफ़ुद्दौला की तरफ़ से कर्बला (इराक़) में जनाब मीर सैयद अली साहब मुन्तजिम रखे गये थे। उन्होंने उसी तारीख़ शब ख़्वाब में देखा कि एक

जनाजा आलीशान आहिस्ता-आहिस्ता रोशनी से जगर-मगर कर्बला शरीफ में दाख़िल हो रहा है और उस जनाज़े में तमाम फ़रिश्ते भी शामिल है। जब फ़रिश्तों से सवाल किया गया कि ये कौन ख़ुशनसीब है तो जवाब मिला कि यह नवाब आसफ़ुद्दौला वज़ीरे हिन्द हैं। आख़ीर में लखनऊ से पता किया गया तो मालूम हुआ कि यह ख़बर सच है और जो कुछ देखा वो सही था।

(५) नवाब वज़ीर अली
(१७९७-९८)

आसफ़ुद्दौला के बाद उनके बेटे वजीर अली को लखनऊ की गद्दी पर बिठाया गया। वज़ीर अली अपने पिता के बनवाए गए शीशमहल में ही रहता था। वह कम्पनी सरकार की चालें ख़ूब अच्छी तरह समझता था इसलिए वो अंग्रेजों से होशियार था। उसने सूबे की आमदनी को बढ़ाया और फ़ज़ूलख़र्ची रोकना चाहा इसके साथ ही सेना संगठन की कोशिशें भी की, इसीलिए कम्पनी सरकार के अफ़सर उसके शासन से घबराते थे। फिर अपनी कूटनीति से गवर्नर जान शोर ने उसे नवाब का अवैध बेटा घोषित करके गद्दीनशीनी के चार महीने पाँच दिन बाद ही तख़्त से उतार दिया। वास्तव में उसके अधिकारी भ्रष्ट थे। उसका ग़द्दार मंत्री तफ़ज़्ज़ुल हुसैन भी इस मामले में अंग्रेज़ों से मिला हुआ था। इस काम को लार्ड तेनमाउथ ने अंजाम दिया था। वज़ीर अली को बिबियापुर कोठी में क़ैद कर लिया गया और फिर डेढ़ लाख रुपये की सालाना पेंशन देकर बनारस भेज दिया गया। वहाँ उसने अपना बदला लेने के लिए मिस्टर चेरी नाम के एक रेज़ी-डेण्ट की हत्या कर दी। इस अपराध की सजा में उसे फ़ोर्ट विलियम के क़िले में क़ैद कर लिया गया। बाद में उसे उम्रक़ैद देकर पहले फ़ोर्ट विलियम में रख गया और फिर टीपू सुलतान के परिवार के लिए बनवाये गये बेलूर क़िले वाले महल में डाल दिया गया, जहाँ सन् १८१७ में उसकी मृत्यु हो गयी।

लखनऊ का ये नवाब बदलते भाग्य का एक अनोखा नमूना था कि जिसकी शादी के अवसर पर ३० लाख रुपये ख़र्च किये गये थे उसी के अंतिम संस्कार पर सिर्फ़ ७० रुपये ख़र्च हुए थे।

(३) नवाब मिर्ज़ा यासीन सआदत अली ख़ाँ
(१७९८-१८१४)

नवाब सआदत अली ख़ाँ शुजाउद्दौला के बेटे थे जो उनकी ख़ास महल बहू-बेगम से पैदा नहीं हुए थे बल्कि एक अन्य रानी की औलाद थे। इस तरह वो आसफ़ुद्दौला के सौतेले भाई थे चूंकि वे मगल के दिन पैदा हुए थे इसलिए बचपन में मंगलू कहलाते थे और इत्तिफ़ाक यह कि मंगल के दिन ही उन्होंने इन्तक़ाल

किया। उनका लडकपन फ़ैजाबाद में बीता। वो बाप को बहुत प्यारे थे और उनकी खुशखत लिखावट पर उनके बाबा हजरत को बड़ा नाज था। जब कभी वो आसफ़ुद्दौला के साथ खेलते हुए महल में आ जाते थे तो शुजाउद्दौला अपनी ख़ास बीवी बहू बेगम से कहते थे आसफ़ुद्दौला की माँ इसके सर पर भी अपने प्यार का आँचल रख दो। किसी दिन देखना ये तुम्हारे दुपट्टे को अपने झण्डे में लगाकर उस परचम बेनज़ीर को नर्मदा दरिया के उस पार लहराएगा।" बाप का आशीर्वाद उनके काम आया, इस बात में कोई शक नहीं।

जब आसफ़ुद्दौला नवाब वज़ीर होकर लखनऊ में चाँदी लुटा रहे थे। सआदत अली ख़ाँ बनारस में अपने बीवी-बच्चों के साथ रह रहे थे। हिन्दुस्तान की शतरंजी पर ढाई घर की आडी चाल चलने वाले कम्पनी सरकारक मुखिया वारेन हेस्टिंग्ज ने अवध की गद्दी दिलाने का उन्हे इत्मीनान दिया था। अपने वादे के मुताबिक़ कम्पनी सरकार ने आसफ़ुद्दौला के बाद चन्द रोज़ा हाकिम वज़ीर अली को गद्दी से उतारकर सआदत अली ख़ाँ को विज़ारत सौप दी। सर जान शोर इनको दूल्हा बनाकर बनारस से लाये। २१ फरवरी १७६८ को लखनऊ की बिबियापुर कोठी में एक दरबार का आयोजन किया गया और फिर तख़्ते अवध पर इन्हें मसनदनशीन कर दिया गया। फ़िरंगियों ने इनके दरबार का कुछ इंतजाम सँभाला था। मगर सल्तनत का तोहफ़ा दिलाने के बदले अवध के सूबे में से एक करोड़ पैंतीस लाख रुपये सालाना की जागीर इनसे ज़बरदस्ती वसूल कर ली थी। नवाब तथा गवर्नर-जनरल के बीच एक १७ सूत्री संधि हुई जिसके अन्तर्गत इन्हे इलाहाबाद वाले क़िले के लिए ८ लाख रुपये मरम्मत ख़र्च देना पड़ा। १४ नवम्बर १८०१ की सन्धि से रुहेलखण्ड, मैनपुरी, इटावा, आजमगढ़, बस्ती और गोरखपुर इनके हाथों से निकल गये। इस बात का ग़म नवाब साहब को उम्र-भर रहा, क्योंकि वे बड़े कमख़र्च और अच्छे चाल-चलन वाले समझदार इसान थे। उन्होंने १८०२ में लखनऊ रेजीडेंसी में अपनी रिज़र्व ट्रेजरी स्थापित की। नवाब सआदत अली ख़ॉ जब तख़्तनशीन हुएं, तो हाथी पर सवार होकर हजरत अब्बास की दरगाह में सजदा करने गये और वापसी में चौक की बाजार में ख़ैरात लुटाते हुए सुनहरा बुर्ज महल में लौटे। लखनऊ मे गोमती के किनारे लक्ष्मण टीले और कुड़िया घाट के बीच वाले मैदान में कभी एक बेहद ख़ूबसूरत सुनहरे कलसों वाला महल था जिसे आसफ़ुद्दौला ने अपनी माँ बहू बेगम के वास्ते बनवाया था, इसे ही सुनहरा बुर्ज कहा जाता था, बहू बेगम जब कभी फ़ैज़ाबाद से लखनऊ तशरीफ़ लाती थी इसी महल में रहती थी। अपना फ़र्ज़ समझकर सआदत अली अपनी माॅ की चौखट पर क़दमबोसी की ख़ातिर-हाज़िर हुए। सुनहरे बुर्ज की बालाई मंज़िल पर पहुँचकर उन्होंने जनाब आलिया को सलाम किया और पगड़ी उनके हाथों में देकर अपने सर पर रखने को कहा।

बहू बेगम ने भी उनके सर पर दस्तार रखकर फ़रमाया, 'जाओ बेटे बरकत हो।' इसके जवाब में बेटे ने मुहरें नजर में पेश की और उनकी जागीरो मे 'राठ' की जागीर और बढ़ा दी।

मिर्जा सआदत अली ख़ाँ चालीस लाख रुपये की पूँजी लेकर बनारस से लखनऊ आए थे और उन्होंने अपनी सोलह साल की हुकूमत में चौदह करोड़ रुपया नक़द अवध के ख़ज़ाने में और सत्तरह करोड़ का सोना-चाँदी जोड़ लिया था। इनके ऐसा योग्य शासक अवध मे दूसरा नही हुआ। नवाब की कई शादियाँ बाप के राज में ही हो चुकी थीं। इनकी पहली बेगम अफ़ज़ल महल थी जो बनारस में ही परलोक सिधार चुकी थी और दुर्गाकुण्ड बनारस में ही दफ़न हुई। इसके बाद नवाब ख़ुर्शीदज़ादी इनकी ख़ास महल हुई। राजा बख़्तावर सिंह उनके प्रमुख नायब थे। लार्ड वेलेज़ली सआदत अली से मिलने के लिए लखनऊ आये थे। लखनऊ शहर का पूर्वी इलाक़ा इनके ही वक़्त में आबाद हुआ जिसमें रेज़ीडेंसी से दिलकुशा तक तमाम महल बन गये। इस जमाने में बिबियापुर से तकिया छंदअली और चारबाग से अलीगंज तक लखनऊ शहर बसा हुआ था। पाँच कोस की बस्ती वाले इस शहर में बावनगंज और हर बाज़ार जैसे मशहूर इलाको में तमाम हसीन तरीन-तवायफ़ें भरी पड़ी थीं। रूप-गुण-ढंग से भरी-पूरी और नाच-गाने की कला में माहिर यह पिगलाएँ देश-विदेश से बुलाकर बसाई गई थी और इन्हें मुजरे-महफ़िल के लिए लखनऊ से बाहर जाने की सख़्त मनाही थी। इस वास्ते शहर में बड़ी चौकस नाकेबंदी थी। नवाब को गाना सुनने का बडा शौक़ था मगर वह ऐयाश नहीं थे। सआदत अली ख़ाँ ने विलासिता के विरोध में बड़े कठिन नियम बनाये थे। मोहर्रम और होली के दिनों में शहर के बाहर पाँच कोस के इर्द-गिर्द शराब खुलेआम नहीं बिक सकती थी मगर घर के अन्दर बैठकर पीने की कोई मनाही भी नहीं थी। सआदत अली ख़ाँ को हुक्के से तो इश्क़ था ही घोड़े पालने का भी बड़ा शौक था। ईरानी, तुर्किस्तानी, अरबी और हिन्दुस्तानी नस्ल के हज़ारों घोड़े इनके अस्तबल चौपड़ में रहते थे। उन घोड़ों के लिए लाखों रुपये की लागत के रमने तैयार किये गये थे जिनमें विलायती घास मँगाकर लगाई गई थी और घोड़ों से चरवाई जाती थी। यह 'इम्पोर्टेड' घास यद्यपि बहुत महँगी पड़ती थी लेकिन कोई चारा न था क्योंकि वह घोड़ी के मुँह लग चुकी थी। घोड़ों के बच्चों को गाय का दूध पिलाया जाता था और उन्हें दाना दूध में ही भिगोकर दिया जाता था। ये शाही घुड़साल कभी हज़रतगंज के पीछे ही थी जिसे अब 'लारेंस टैरस' कहा जाता है।

११ जुलाई १८१४ की रात अंग्रेजों से मिले हुए उनके कुछ दुश्मन रिश्ते-दारों ने नवाब को मोतीमहल में मौत के घाट उतार दिया। सआदत अली ख़ाँ के साले रमज़ान अली ख़ाँ नवाब के दीवानख़ाने, आबदारख़ाने और दवा-

खाने के अफ़सर थे मगर बड़े नमकहराम निकले। वो फ़िरंगियो के हाथ बिक गए थे और उन्होंने ही बुड्ढन ख़ाँ आबदार के हाथों वो मौत का प्याला भेजा था जिसे जवाहर अली ख़ाँ ख़्वाजासरां ने नवाब को पिला दिया। कहते है उसी रोज़ एक काला जहरीला गिरगिट शहर में बड़े ऊँचे भाव बिका था। नवाब की स्मृति में उनके उत्तराधिकारी पुत्र ने उनके मज़ार पर बहुत आलीशान मकबरा बनवाया। उसके निकट ही बेगम ख़ुर्शीद ज़ादी का मक़बरा भी निर्मित हुआ।

शाहाने अवध
(भाग २)

(१) बादशाह प्रथम मिर्ज़ा रफ़त उद्दौला ग़ाज़ीउद्दीन हैदर (१८१४-१८२७)

नवाब सआदतअली ख़ाँ जब पुराने लखनऊ में सआदतगंज की बुनियाद मंजिल में रहते थे तो उनकी बेगम नवाब ख़ुर्शीद ज़ादी ने मिर्जा रफ़त उद्दौला को जन्म दिया था, ऐसा भी कहा जाता है कि बचपन में इनको नवाब आसफ़ुद्दौला ने गोद भी लेना चाहा था। सआदतअली ख़ाँ की मृत्यु के बाद उनके बेटे रफ़त-उद्दौला ग़ाज़ी उद्दीन हैदर अवध के नवाब बने। उनकी मसनदनशीनी के कुछ समय बाद ही ८ अक्टूबर १८१४ को जनरल मायरा लार्ड हेस्टिंग्ज उनसे कुछ मन्त्रणा करने के लिए कानपुर आये और ये मुलाक़ात पाँच साल बाद रंग लायी। सन् १८१८ में गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज ने नवाब को दिल्ली दरबारी से मुक्त करके अवध का स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। इस वक़्त दिल्ली के तख़्त पर बादशाह अकबर विराजमान थे। इस प्रकार ग़ाज़ीउद्दीन हैदर अवध के प्रथम बादशाह हुए।

सन् १८१९ में नवाब साहब 'हिज़ एक्सीलैंसी' से 'हिज मैजेस्टी' बन गये, अब वो 'नवाब वज़ीरुल मुमालिक बहादुर' नहीं थे, बल्कि 'बादशाहे अवध अव्वल ग़ाज़ीउद्दीन हैदर' थे और इस नाम के लिए उन्हें डेढ़ करोड़ रुपये तथा कुछ जागीर देनी पड़ी थी। अवध के तत्कालीन रेज़ीडेंट सरजान बेली ने उन्हें अपने हाथों से हीरे-जवाहरात जड़ा सोने का ताज पहनाया था और अब तख़्त की जगह

सिंहासन ने ले ली थी। शाहे अवध का यह सिंहासन ठोस चाँदी का बना हुआ था, इस पर गगा-जमुनी काम था, और लाखों के नगीने जड़े हुए थे। बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की तख़्तनशीनी के समय तीस हज़ार के मोती उनके सर से निछावर उतारकर लुटा दिये गये थे। लाल बारादरी में हुई ये ताजपोशी इतिहास प्रसिद्ध है। उस समय की सजावट और दरबार का रख-रखाव सारे भारत में श्रेष्ठ माना गया था। इसी बारादरी में ख़ास वज़ीर नवाब आग़ामीर और राजा दयाकृष्ण जैसे वज़ीरों के साथ बड़े-बड़े गुनियों, गायकों, बुद्धिविलासियों और अंग्रेज चमचों का हुजूम रहता था मगर औरत के नाम पर सिर्फ़ दरबारी तवायफ़ें या फिर महल की कनीज़ों का ही आना-जाना था।

नवाब आग़ामीर इनके ख़ास वज़ीर थे। बादशाहे अवध अव्वल की प्रमुख बेगम बादशाह बेगम थीं जिनके अलावा सरफ़राजमहल, मुबारकमहल, मुमताजमहल भी इनकी ख़ास बेगमें थीं। बादशाह कुछ मनमौजी प्रकृति के थे, फिर भी उनके शासन काल में काफ़ी सांस्कृतिक प्रगति हुई। उन्होंने अपने एक मंत्री की सलाह से गंगा नदी की एक नहर को उन्नाव से लखनऊ ले आने का प्रयास किया था परन्तु यह कार्य अंग्रेज़ों की कूटनीति के कारण पूरा न हो सका। बादशाह ने छतर मंजिल, मुबारक मंज़िल, शाह मंज़िल, और दिलाराम कोठी के प्रसिद्ध भवन बनवाए और अपनी अंग्रेज़ बेगम के लिए उन्होने गोमती के किनारे एक विलायती बाग का भी निर्माण कराया था।

१८ अक्टूबर १८२७ को छोटी दीवाली के दिन बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन की मृत्यु हो गयी और उन्हें उनके ही द्वारा निर्मित शाहनजफ़ के प्रसिद्ध इमामबाड़े में दफ़न कर दिया गया जहाँ उनकी अन्य तीन बेगमों के मज़ार भी है।

(२) बादशाह द्वितीय नसीरुद्दीन हैदर
(१८२७-१८३७)

बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के मरने के बाद उनका बेटा मिर्ज़ा सुलेमा जाह उर्फ़ नसीरुद्दीन हैदर गद्दी पर बैठा। यह दासी पुत्र था और इसका पालन-पोषण ऐसे वातावरण में हुआ था कि यह अत्यन्त विलासी एवं अंग्रेज़परस्त शासक बना।

अवध के बादशाह नसीरुद्दीन हैदर सन् १८२७ में पच्चीस बरस की उम्र में तख़्ते विरासत पर विराजमान हुए थे और उन्होंने पूरे दस साल तक हुकूमत की। इस बादशाह के कमज़र्फ़ और नासमझ होने के तमाम क़िस्से मशहूर हैं लेकिन उसके सीने में भी कहीं इंसान था, जिसे वक़्त और हालातों ने कभी उभरने न दिया। वास्तव में नसीरुद्दीन बड़ा दयालु और धर्मभीरु था। उसके समय में दीन-दुखियों और रोगी अपाहिजों की ख़ुशहाली पर बड़ा ध्यान दिया जाता था।

मेजर आर० डब्लू० बर्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अवध में लूट' (डक्वाटी

इन एक्सेलसिस) में लिखा है, "कम्पनी ने क़र्ज के रूप मे नवाब से ६२,४०,००० रुपये लिए थे और इसका ब्याज भी नवाब को न मिला, यद्यपि यह नवाब विलासी था किन्तु इसने प्रजा के लिए अस्पताल बनवाए, यतीमख़ाने बनवाए, ठगी, डकैती और गुलामी की प्रथा को समाप्त किया। रेज़ीडेंसी पर नवाब के २,००,००० रुपये वार्षिक व्यय होते थे। इस धनराशि को बढ़ाकर ५०,००,० रुपये किया गया क्योंकि इसमें गौराग महाप्रभु (अंग्रेज़) निवास करते थे।

बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के जमाने में दरबार और महल में अंग्रेज़ों तथा छोटे तबक़े के लोगों की बडी धूम मची हुई थी। महल मे बादशाह की एक ईसाई बेगम मख़दरह आलिया तो थी ही, उनके आगे-पीछे फ़िरंगी मुसाहिबों का पूरा एक दस्ता भी चलता था। अंग्रेजी तर्ज की ज़िन्दगी जीने और यूरोपियन स्टाइल की रहन-सहन अपनाने के लिए इन्होंने बड़ी से बड़ी क़ीमतें अदा की थीं। यही वजह थी कि अंग्रेज़ीयत का भूत उन पर ऐसा सवार हुआ कि बस जान लेकर ही गया।

मौलवी ख़लीलुद्दीन ख़ाँ सफ़ीर ने बादशाह नसीरुद्दीन को यह मशवरा दिया था कि वो शाहे लन्दन से किसी भी तरह मेलजोल बढ़ाए रखें, और इसमें कोई शक नही कि कम्पनी सरकार की दोस्ती आड़े वक़्तों में काम ज़रूर जाएगी। इस क़ीमती सलाह पर अमल करके बादशाह ने शाहे लंदन के लिए बेशक़ीमती सौग़ातें लखनऊ से भेजी थीं। उन्होंने सोने की एक ख़ूबसूरत तलवार 'आसफ़ी' भेजी जिसकी क़ीमत पचास हज़ार रुपये तक थी। इस तलवार की पेटी में हज़ारों रुपये के जवाहरात जड़े हुए थे। इनके साथ एक सोने का पलंग और यहाँ की मशहूर मख़मली गुरगाबियाँ भी गई थी। ये कुल सामान एक मुहब्बतनामे के साथ कलकत्ते भेज दिया गया और वहाँ से पानी के जहाज़ द्वारा उसे विलायत पहुँचाया गया। ब्रिटेन के बादशाह ने अवध के हाकिम का वो तोहफ़ा बड़े शौक़ से क़ुबूल फ़रमाया और जवाब में एक विलायती घोड़ा, सोने की ज़ीन के साथ कुछ तमंचे, कई बन्दूकें, जंजीरदार जवाहरातों जड़ी कुछ सोने की घड़ियाँ लखनऊ भेज दीं मगर बदक़िस्मती से जब तक ये माल लखनऊ आया, बादशाह मर चुके थे।

नसीरुद्दीन हैदर ने अपनी शान-शौकत और अपने भोग-विलास में अवध का सारा ख़ज़ाना ख़ाली कर दिया। अंग्रेज़ों ने इसे अपने इशारों पर ख़ूब नचाया। बादशाह उम्र भर महल में भरी हुई तमाम चालाक स्त्रियों के हाथों का खिलौना बना रहा। दिल्ली के शाही ख़ानदान की लड़की सुल्तान बहू उनकी ख़ास महल थी। उसके अलावा विलायती महल, मलका ज़मानी, ताजमहल, और कुदसिया महल भी इसकी प्रधान बेगमों में थीं, इसके ख़ास वज़ीर मुन्तजिमउद्दौला हकीम मेहदी अली ख़ाँ और नवाब रोशनउद्दौला हुए हैं।

नसीरुद्दीन हैदर के इसी दरबार की तारीफ़ विलियम नाइटन ने अपने ग्रंथ

में की है । फ़ैनी पार्क्स नामक प्रसिद्ध फ्रांसीसी महिला पर्यटक ने इसी भव्य भवन में नसीरुद्दीन हैदर की ताजपोशी के जश्नेशाही में शिरकत की थी, और उसकी हूर चेहरा बेगमों की तारीफ़ों के पुल बाँधे थे । नसीरुद्दीन हैदर के अंग्रेज मुसाहिबों ने उसके पहलू में अंग्रेज़ हसीनाओं और हलक़ में अंग्रेजी शराब उतारकर उसकी आँखों पर अंग्रेज़ीयत के पर्दे डाल दिये थे, और उसका हिन्दुस्तानी नूर छीन लिया था ।

बादशाह नसीरुद्दीन हैदर ने उम्र भर उधार की अक़्ल से सारे काम किये, चूँकि धनिया महरी से उनका जीने-मरने का साथ था, इसलिए उसका दिमाग़ सबसे आगे चलता था । जब शाहे अवध की सवारी निकलती तो धनिया महरी बहुत बन-ठन कर हाथों में गिलौरीदान लेकर उनके साथ चलती थी, बेगमों को रूप-धूप और आब-ताब का कोई सवाल ही न था । सिर्फ़ जिस महल की तरफ़ धनिया महरी का इशारा हो जाता, बादशाह रात को उसी महल पर मेहरबान होते थे । ७ जुलाई, १८३७ की रात जब नसीरुद्दीन हैदर को ज़हर देकर सुला दिया गया तो उनकी मौत का सारा इल्ज़ाम धनिया महरी के सर आया, क्योंकि चढ़ते चाँद के वक़्त बादशाह ने आख़िरी शरबत धनिया के हाथों ही पिया था । यद्यपि इस साजिश में कई लोग शामिल थे जो पर्दे के पीछे ही रह गये ।

इनकी मृत्यु के बाद इस द्वितीय बादशाह अवध को इरादतनगर के मशहूर कर्बला में दफ़्न कर दिया जहाँ उनकी प्यारी बेगम कुदसियामहल का मज़ार था ।

(३) मिर्ज़ा रफ़ीउद्दीन हैदर उर्फ़ मुन्नाजान (अवैध बादशाह)

अवध के द्वितीय बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के हरम में तमाम बेगमें थी, लेकिन उनमें से किसी की गोद हरी नहीं हो सकी थी, इसलिए तख़्ते सल्तनत के अगले वारिस के लिए बादशाह से ज़्यादा बेचैनी उनकी माँ बादशाह बेगम को थी जो अंग्रेज़ों की कट्टर दुश्मन थीं । इन्होंने स्थिति को देखते हुए अगले वारिस की कुछ ऐसी योजना बनाई जो अवध के इतिहास में अपने ढंग की अनोखी मिसाल है । कहा जाता है, बादशाह बेगम की एक बाँदी जिसका नाम सुखचैन था, कुछ दिनों तक नसीरुद्दीन हैदर की ख़िदमत में रही और जब उसका पाँव भारी हो गया तो मलिकए आलिया ने उस कनीज़ को अपने संरक्षण में ले लिया क्योंकि वो जानती थीं कि छतर मंजिल इलाक़े की कोई बेगम इस शिकस्त को सहन नहीं कर सकेगी ।

सन् १८२० के सितम्बर महीने की चार तारीख़ को सुखचैन बाँदी ने मिर्ज़ा रफ़ीउद्दीन हैदर को जन्म दिया । उसके बाद ही सुखचैन का मर्तबा बढ़ा दिया गया और उसे अफ़ज़लमहल कहा जाने लगा । इनका एक नाम मोहम्मद मेंहदी

भी था और इनकी दादी बादशाह बेगम साहिबा इन्हें प्यार से मुन्नाजान कहकर पुकारती थीं। वैसे तो बादशाह बेगम का इतना दबदबा था कि उन्होने दरबार से लेकर सारे शहर से इस बात की मंजूरी करा ली थी कि मुन्नाजान बादशाहे दोयम अवध की ही सन्तान है। परन्तु अंग्रेज़ रेज़ीडेंट और सल्तनत के कुछ दुश्मन —जैसे नवाब आग़ामीर इत्यादि, इस तथ्य का हमेशा विरोध करते रहे। इस सिलसिले मे सबसे बड़ी भूल बादशाह नसीरुद्दीन हैदर की तरफ़ से ही हुई। जिस जमाने में उनकी प्रधान बेगम मलिका ज़मानी उनके दिलोदिमाग़ पर छाई हुई थीं, उन्हीं दिनों उन्होने इसके पूर्व पति से हुए बेटे कैंवाजाह को अपना बेटा घोषित कर दिया था। मलिका जमानी के ही अनुरोध पर उन्होंने मुन्नाजान को अपनी औलाद मानने से इनकार कर दिया था। मलिका ज़मानी ने ये चाल इस-लिए खेली थी जिससे कैंवाजाह का भविष्य सुरक्षित हो सके जबकि ये सर्वविदित था कि कैंवाजाह से बादशाह के ख़ून का कोई लगाव नही है। इस प्रकार कैंवा-जाह का भविष्य तो बन ही नहीं सकता था। हाँ, इस दाँव-पेच में मुन्नाजान की तक़दीर ज़रूर फूट गयी।

७ जुलाई, १८३७ की रात बादशाह ने ज़हर पीकर अपनी आँखें मूँद ली। इस बात की ख़बर जब उनकी माँ बादशाह बेगम साहिबा को मिली तो वो तख़्ते सल्तनत को आबाद करने की ग़रज़ से सवारी पलटन के साथ अपने निवास स्थान अल्मास बाग़ से लाल बारादरी की तरफ़ चल पड़ी। उन्होंने अंग्रेज़ बहादुर और नवाब रौशनुद्दौला के तमाम विरोध के बावजूद मुन्नाजान को पाये हुकूमत पर बिठाकर ही दम लिया। जिस रात नसीरुद्दीन हैदर का इन्तक़ाल हुआ उसी की सुबह पौ फटते-फटते मुन्ना जान की ताजपोशी हो चुकी थी। अवध के इतिहास में यह एक अजीबोग़रीब तारीख़ थी। ताजपोशी के इस हंगामे ने रेज़ीडेंट जनरल लू साहब, नवाब रौशनुद्दौला वज़ीरे ख़ास और दरबारी वकील ग़ुलाम यहिया ख़ाँ के होश उड़ा रखे थे। बहरहाल मुन्नाजान को तख़्त से उतार देने की कोशिश में वो सब एक हो गये, इधर बेगम के तीरंदाज़ पासियों की फ़ौज और राजपूत सिपाही ऊधम मचा रहे थे तो कैप्टेन मैंगनेस साहब ने मड़ियाँव छावनी से अपनी पूरी पलटन बुला ली और बारादरी पर हमला कर दिया।

आख़िर मे ब्रिगेडियर जानसन के हवलदार ने मुन्नाजान के बाज़ू बाँध दिये और बात की बात में उनके सर से ताज उतार लिया गया। बादशाह बेगम और बेताज के बादशाह मुन्नाजान को अंग्रेजी फ़ौज की निगरानी में लखनऊ के बेली-गारद में क़ैद कर लिया गया। मुन्नाजान की इस ताजपोशी को अपराध घोषित किया गया क्योंकि मरने वाले बादशाह ने उसे अपना पुत्र मानने से इन्कार कर दिया था और गवर्नर-जनरल ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार की ओर से लाट साहब को लिखा फरमान भी इस अवसर पर प्रस्तुत किया गया था। इसी अपराध

में बेगम की कुल जागीर रेजीडेंट साहब ने ज़ब्त कर ली और उन दोनों को उम्र-क़ैद की सज़ा हो गयी। बादशाह बेगम और मुन्नाजान को पहले कानपुर भेजा गया जहाँ वे १२ जुलाई, १८३७ की रात ठीक साढ़े नौ बजे परमट कोठी में उतारे गये। इसके दो हफ़्ते बाद ये शाही घराने के क़ैदी गंगा के किनारे चुनारगढ़ के प्रसिद्ध क़िले में नज़रबंद कर दिये गये। इसी क़िले की क़ैद में पूरी उम्र गुज़ार कर अवध के ये बेक़ुसूर बन्दी मौत की गोद में सो गये।

(४) बादशाह तृतीय—नसीरुद्दौला मौहम्मद अलीशाह (१८३७-१८४२)

नवाब नसीरुद्दौला नवाब सआदत अली ख़ाँ के ही बेटे थे और इस तरह प्रथम बादशाह के भाई थे। लेकिन इनकी तख़्तनशीनी की कोई सम्भावना न थी। जब तक ताज इनके सर पर आया इनकी उम्र ६७ बरस हो चुकी थी। ८ जुलाई, १८३७ को इनकी तख़्तनशीनी हुई। वह अवध के इतिहास में क़यामत का दिन था जब एक ही रात बड़ी-बड़ी घटनाएँ घट रही थीं। महल में नसीरुद्दीन हैदर की लाश पड़ी थी। लाल बारादरी में नाबालिग़ बादशाह मुन्नाजान को तख़्त से उतारा जा रहा था। इलाक़ा फ़रहतबख़्श में बादशाह बेगम की पलटन और मड़ियाँव की अंग्रेजी फ़ौज मारकाट मचाए हुए थी। इसी अफ़रा-तफ़री के आलम में मरने वाले बादशाह के बूढ़े चाचा को राजनीतिक दाँव-पेच के अन्तर्गत बीमारी की हालत में सबेरे तड़के ३ बजे कस्रउल सुल्तान में लाकर तख़्त पर बिठाया गया और उनके सर पर ताज रख दिया गया यद्यपि लखनऊ का जनसमूह मुन्नाजान के पक्ष में था। इस वक़्त बादशाह के साथ उनके अधेड़ उम्र बेटे अमजद अली-शाह, जवान पौत्र मिर्ज़ा वाजिद अली शाह भी थे जो उस मारधाड़ में चोटें खा रहे थे। ग़रज़ यह कि इस बादशाहत के लिए उन्हें आग और ख़ून का दरिया पार करना पड़ा। जिस शाही तख़्त पर बादशाह को बिठाया गया था उसका एक-एक रत्न कम्पनी सरकार के सिपाही लूट चुके थे। तख़्तनशीनी के साथ ही नवाब को अबुल फ़तेह मुइनुद्दीन सुल्ताने ज़मां नौशेरवाने आदिल बादशाह मुहम्मद अली का ख़िताब मिला। पहले कुछ दिनों तक नवाब रौशनुद्दौला नवाब इनके वज़ीर रहे बाद में इस दगाबाज़ को इन्होंने क़ैद करके कानपुर भेज दिया और उनकी जगह फर्रुख़ाबाद से बुलाकर सुयोग्य मंत्री नवाब हकीम मेंहदीअली ख़ाँ मुन्तज़िम-उद्दौला को विज़ारत सौंप दी गई।

बादशाह गठिया के पुराने मरीज़ थे, उन्हें अपने हाथ से दस्तख़त करना भी मुश्किल था और वे खाना तक बेगमों के हाथ खाते थे। फिर भी एक पलंगड़ी पर बैठकर इन्होंने सूबे का बख़ूबी बन्दोबस्त किया। चूँकि इन्होंने अपने बाप का राज-काज बड़े अनुभव के साथ देखा था, इसलिए उन्हें अवध के योग्य शासकों में

नंबर दो पर गिना जाता है। इलियट ने भी 'गार्डन आफ़ इण्डिया' मे लिखा है—बादशाह मोहम्मद अली शाह के गद्दी पर बैठने से राजकाज और शासन का सुधार हुआ तथा एक नये युग का आरम्भ हुआ।

२५ जुलाई को गवर्नर-जनरल लार्ड ऑकलैण्ड ने बादशाह को उनकी बादशाही का बधाई-पत्र भेजा था। इसके बाद गवर्नर-जनरल साहब बादशाह सलामत से मुलाक़ात करने कानपुर तशरीफ़ लाये। २७ रजब को गवर्नर-जनरल बहादुर की वलीअहद मिर्जा अमजद अली से गंगा के उस पार मुलाक़ात मुमकिन हुई और तब ही ग़ुलाम यहिया ख़ाँ को नया वज़ीर बनाया गया जिसे ख़िताब मिला 'ज़हीरुद्दौला'।

बादशाह बड़े सूझबूझ वाले आदमी थे फिर भी चूँकि उन्होंने अंग्रेजों के हाथों ताज पहना था, इसलिए उन्हें हर बात के लिए रेज़ीडेंट से सलाह लेनी पड़ती थी। ११ सितम्बर, १८३७ को जो नई संधि बादशाह और कम्पनी सरकार के बीच हुई उसने अवध के कफ़न पर कीलें ठोंक दी। इस संधि के अनुसार सेना बड़े ऊँचे स्तर पर बढ़ा दी गई परन्तु इन पलटनों का कमाण्डर कोई ब्रिटिश अफ़सर ही हो सकता था और इन फ़ौजों का इस्तेमाल रेजीडेंट की आज्ञा से ही हो सकता था। इन फ़ौजो का ख़र्च १६ लाख रुपया सालाना बादशाह को भोगना पड़ता था। इस पलटन का एक हिस्सा अवध के सीतापुर क्षेत्र में और दूसरा सुल्तानपुर क्षेत्र में रहता था। यही फ़ौजें पंजाब के युद्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मदद के लिए भेजी गई थीं। मोहम्मद अली शाह ने अवध पर केवल ५ वर्ष तक शासन किया। अपने शासन काल में उन्होंने हुसैनाबाद की ख़ूबसूरत और लाजवाब इमारतों को बनवाया। शहर की सड़कें पक्की करवाईं। बम्बई मे कर्बला तथा मक्का जाने वाले तीर्थयात्रियों के लिए एक मुसाफ़िरख़ाना बनवाया और इराक़ में कर्बला की इमारतों की मरम्मत करवाई।

बादशाह की ख़ास बेगमों में मलिका आफ़ाक़ और मलिकाजहाँ का ही नाम लिया जा सकता है। उनके महल में सिर्फ़ सौ बाँदिया थीं। उन्होंने सन् १८३९ में २६ लाख रुपया कम्पनी सरकार को देकर ट्रस्ट क़ायम किया जो हुसैनाबाद के नाम से आज भी मशहूर है। इस ट्रस्ट के द्वारा उनकी इमारतों का रख-रखाव होता है और मोहर्रम धूमधाम के साथ मनाया जाता है। १६ मई, १८४२ को बादशाह का देहान्त हो गया। उस समय अवध के शाही ख़ज़ाने की स्थिति बहुत अच्छी थी। मरने के बाद बादशाह को इमामबाड़ा हुसैनाबाद में उनकी माँ मलिकए आलिया के पहलू में सुला दिया गया।

(५) बादशाह चतुर्थ—सुरैयाजाह अमजद अली शाह (१८४२-१८४७)

अवध के चौथे बादशाह १६ मई, १८४२ को सिंहासन पर बैठे, उस वक़्त उनकी उम्र ४३ बरस ४ महीने की थी। वह बड़े सादगी पसद और सूफ़ी तबीयत के आदमी थे। बचपन से उनकी माँ मलिका आफ़ाक ने उन्हे सदाचरण की शिक्षा दी थी। इनका बस चलता तो ये अपने दरबार को सैयदों; मौलवियो और पडितों से भर लेते और सारा खजाना उन पर निछावर कर देते। अमजद अली शाह इस क़दर मौलवी-दिल इंसान थे कि उन्हें हजरत के नाम से पुकारा जाता था, और इन्ही के नाम से लखनऊ का हजरतगज आवाद है। इनकी बीवियो की गिनती एक हाथ की उँगलियो के बराबर भी नही थी। अवध के चौथे बादशाह सुरैयाजाह अमजद अली शाह की ख़ास महल, वाजिद अली शाह की माँ तान-आरा बेगम मलिका किश्वर थी। उनके अतिरिक्त मलिका अहद और मलिका गेती उनकी अन्य प्रमुख बेगमे थी।

बादशाह बादशाह कम मुल्ला ज़्यादा थे। उनके वक़्त के एक विदेशी मेहमान वानआरलिश ने उनका हुलिया कुछ इस तरह वताया है, "वादशाह ख़ुद भी लबे थे और उनकी नाक भी लंबी थी। वो घुटनों तक का एक हरे रंग का रेशमी चोग़ा पहनते थे, जिस पर सोने-चाँदी के मज़हबी क़सीदे कढे रहते थे। लाल रेशमी पायजामा पहनते थे और उनके सलीमशाही जूतों पर भी सोने का काम रहता था। उनके कलीदार ऊँचे ताज पर तमाम जवाहरात जड़े रहते थे और गले में सच्चे मोतियों का हार होता था। हाथों मे हीरे की दो अँगूठियाँ नगमे गाती थीं और तस्बीह के दाने थे कि चलते रहते थे।

सुरैयाजाह अमजद अली शाह के ख़ास वजीर मौलवी इमदाद हुसैन थे जिनको अमीनुद्दौला जुल्फ़िक़ार जंग के ख़िताब से जाना जाता था। लखनऊ में इमदाद हुसैन के बाग़ को ही आज अमीनुद्दौला पार्क कहा जाता है। बादशाह ने अपने जीवन काल में अपनी बेगम मलिका अहद के रहने के लिए हज़रतगंज में बेगम कोठी बनवायी जिसमें पुराना बड़ा डाकख़ाना था। बादशाह ने हज़रतगंज और वज़ीर ने अमीनाबाद बसाया था। इस प्रकार ये दोनों बाज़ारे बहिश्त उसी काल की देन हैं। उनके ही जीवन-काल में लखनऊ से कानपुर तक कंकड़ बिछाकर पक्की सड़क बनवायी गयी थी। गोमती नदी पर लोहे का पुल बादशाह अमजद अली शाह के समय में बनवाया गया।

बादशाह की मृत्यु १२ फरवरी, १८४७ को हुई। मृत्यु के बाद उन्हें हज़रतगंज में ही दफ़नाया गया। पाँचवें बादशाह जाने आलम वाजिद अली शाह ने दस लाख रुपये की लागत से सिबतैनाबाद का इमामबाड़ा बनवाया था।

यह शानदार इमामबाड़ा कभी फूल-बहारों से सजा हुआ, ऊँचे-ऊँचे परकोटों से घिरा हुआ, दिल लुभा लेने वाला स्थान था। पर जब लखनऊ का पतन शुरू हुआ और वाजिद अली शाह को अपने देश से परदेश भेज दिया गया तो शहर का सुहाग ही लुट गया और सिबतैनाबाद दुश्मनों का डेरा बन गया। ग़दर की जंग ने इस मज़बूत मक़बरे को कमज़ोर कर दिया। और फिर अंग्रेज़ों ने इस पर क़ब्ज़ा कर लिया

चूँकि बादशाह बिलकुल दूरन्देशी न थे इसलिए इस शहर की अन्य प्रसिद्ध इमारतों की तरह इसके लिए कोई ट्रस्ट न क़ायम हो सका और इसकी देख-रेख का कोई इन्तज़ाम न हुआ।

लार्ड कैनिंग महाशय ने दूसरी बार जब लखनऊ का दौरा किया तो एक इतवार को इसके सहन में मसीही प्रार्थनाएँ की थी। अब क्या था, वो दिन और आज का दिन, यह इमामबाड़ा ईसाइयों का गढ़ बन गया। और इसकी ग़ुलाम गर्दिशों और सहनचियों में ईसाई बस्तियाँ बस गयीं।

(६) बादशाह पंजुम क़ैसरजहाँ—बादशाह वाजिदअली शाह

बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के अहद में जब वाजिदअली शाह पैदा हुए थे तो इनकी दादी मलिका आफ़ाक ने होने वाले बच्चे को जोगिया रंग के कपड़े पहनाये थे। अवध में अय्याशी का रिवाज भादों की गोमती की तरह उफना रहा था—ऐसे वातावरण में भोग-विलास की प्रवृत्ति से होनेवाली औलाद को बचाने के लिए दादीजान को अगर यह तरकीब सूझी तो इसमें क्या अजब था! यह बात और है कि आगे चलकर वाजिद अली शाह जोगी तो नहीं हुए, मस्ताना जोगी ज़रूर बन गये और ललित कलाओं के लिए तो उन्होंने राजकाज से फ़क़ीरी ही ले ली। 'इन्दर सभा' रचाने वाले वाजिद अली शाह का जन्म भी इन्द्रयोग में हुआ था।

वाजिद अली शाह की ताजपोशी सन् १८४७ में १२ फरवरी को हुई। तख़्ते सल्तनत पर मसनदनशीन होते ही उन्हें ख़िताब मिला 'अबुल मुज़फ़्फ़र नासिरुद्दीन सिकन्दरजाह बादशाहे आदिल क़ैसर जमा सुल्तानी वाजिद अली शाह'। बादशाह की प्रधान बेगमों में नवाब आलमआरा बेगम, नवाब सिकन्दरमहल, नवाब माशूक़महल, 'बेगम हज़रतमहल और अख़्तरमहल के नाम लिए जा सकते हैं। राजा बालकृष्ण और सैयद अली नक़ी ख़ाँ उनके प्रमुख वज़ीर थे। ताजपोशी के वक़्त उनकी उम्र २६ वर्ष की थी। उन्होंने अवध साम्राज्य पर ९-१० वर्ष तक राज्य किया। यह वह वक़्त था जब लखनऊ कला, संस्कृति और साहित्य का केन्द्र बन चुका था। नवाब ने ख़ुद चालीस ग्रन्थ लिखे हैं। उनके लिखे हुए ६ दीवान, अनेक मसनवियाँ और ठुमरियाँ प्राप्त हैं।

उस ज़माने में क़ैसर बाग़ के बनवाने में नवाब ने अस्सी लाख रुपये ख़र्च किये थे, शाहे अवध का क्रीड़ा-केन्द्र क़ैसर बाग़ ही था। ये बादशाह बड़े नम्र स्वभाव के, मिलनसार और सद्‌गुणी व्यक्ति थे। ये प्रत्येक धर्म और ललित कलाओं का उचित सम्मान करते थे। कहीं भी उनके विरुद्ध किसी ने एक पंक्ति भी नहीं लिखी है।

तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौज़ी ने कर्नल स्लीमन को अवध की स्थिति देखने के लिए भेजा, स्लीमन ने ख़जानाए अवध के शाही ख़र्चे से इस सूबे का दौरा किया, और अपनी रिपोर्ट के द्वारा नवाब की जड़ काट दी। उसने लिखा कि रिश्वतख़ोरी और भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर है और बादशाह को गाने-बजाने और नाच-रंग से इतनी फ़ुरसत कहाँ है कि वो इस ओर ध्यान दे।

जनता को जाने आलम से कोई शिकायत नही थी, न वे निःसन्तान थे और न अंग्रेज़ों से बादशाह ने कोई दुश्मनी ही बरती थी। केवल कुशासन के बहाने उनसे शासन छीना जा सकता था।

वाजिद अली शाह के नए ससुर अली नक़ी ख़ाँ अंग्रेज़ों के दोस्त बन गए और इस तरह ब्रिटिश हुक्मरानों को आधे राज्य के प्रलोभन में सल्तनत अवध हथियाने का अच्छा हथियार मिल गया। सन् १८५४ में जनरल आउटरम को इस काम को अंजाम देने के लिए अवध का रेजीडेंट बनाकर लखनऊ भेज दिया गया।

सन् १८४७ से १८५६ तक जाने आलम ने अवध में राज किया। ७ फरवरी, १८५६ को अंग्रेज अपनी धींगामुश्ती में कामयाब हो गए और उन्हें सल्तनत की हुकूमत से महरूम कर दिया गया।

१३ मार्च, १८५६ को बड़ी मजबूरी और बेकसी के आलम में वाजिद अली शाह लखनऊ से रवाना हुए। १४ को कानपुर पहुँचे और फिर गंगा के जलमार्ग से बनारस में पडाव करते हुए वे १३ मई को कलकत्ते पहुँचे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार ने मुल्क में बदअमनी और बदइन्तज़ामी का इल्ज़ाम लगाकर नवाब को अवध की सरहदों से बाहर आबाद किया था और उन्हें बारह लाख रुपये सालाना पेंशन बतौर गुज़ारा प्रदान की थी जो जानेआलम के लिए जलते तवे पर पानी की बूंद के समान थी। नवाब के साथ-साथ उनकी कई बेगमें, मुसाहिब, गायक, गुणवन्त और कलाकार कलकत्ते चले गए थे। ये सब के सब मटियाबुर्ज नामक इलाक़े में आबाद हुए और इस तरह वहाँ भी एक छोटा-मोटा लखनऊ बस गया।

कलकत्ते में भी नवाब वाजिद अली शाह की सांस्कृतिक गतिविधियों में कोई विशेष अंतर नही पड़ा। वहाँ भी लखनवी तर्ज़ की इमारतें बनने लगीं। यहाँ तक कि उनके नाम तक वही थे जैसे लखनऊ में थे। वहाँ शेरो-शायरी, नृत्य-संगीत के घराने भी क़ायम हो गए थे। नवाब की माँ मलिका किश्वर साहिबा अपने बेटे के तख़्तो-ताज की वापसी की अपील लेकर समुन्दरी जहाज़ से महारानी विक्टोरिया

के पास लन्दन तक गईं परन्तु वक़्त ने उनका साथ नहीं दिया और उनकी फ़रियाद पर मलिका विक्टोरिया ने कान नहीं दिये क्योंकि तब तक अवध की जनता अपने बिछुड़े बादशाह के पक्ष में ग़द्र के अंगारे उगलने लगी थी।

कलकत्ते में अपने जीवन के अन्तिम ३१ वर्ष बिताने के बाद नवाब ६८ साल की उम्र में सितम्बर, १८८७ में जन्नतनशीन हुए जहाँ सिबतैनाबाद के इमामबाड़े में उनका मजार है।

शाहज़ादा मिर्ज़ा रमज़ान अली—'बिरजीसक़द्र'

अवध के आख़िरी बादशाह वाजिद अली शाह के फ़रजन्द 'बिरजीसक़द्र' हुज़ूर बाग़ की नगीने वाली बारादरी में पैदा हुए थे, इनके पैदा होते ही इनकी माँ हज़रत महल का रुतबा बढ़ा था। बिरजीसक़द्र के दादा अमजद अली शाह ने ग्यारह तोपों की आवाज से शहर मे इस पैदाइश का एलान किया था। लखनऊ शहर में किसी शाहज़ादे के पैदा होने पर इतनी धूमधाम नहीं हुई थी, ऐन रमजान के महीने में पैदा होने वाले इस बच्चे का नाम पहले रमजान अली हुआ था फिर दादा हज़रत ने मिर्ज़ा बिरजीसक़द्र बहादुर नाम दिया। वाजिद अली शाह की क़लम ने ख़ुद इसका ज़िक्र किया है...

"ग़रज़ मुद्दते हम्ल आख़िर हुई
ख़ुशी बाद नौ माह ज़ाहिर हुई
वो तिफ़्ले ख़ुश इक़बाल पैदा हुआ
कि जिस पर ख़ुद इक़बाल शैदा हुआ
ख़िताब उसका रौशन है मानिंद बदर
ये मिर्ज़ा बहादुर है बिरजीस क़दर

कहते हैं बिरजीसक़द्र की पैदाइश पर इनकी दादी मलिका किश्वर का हुक़्क़ा भरने वाली इलाही बेगम नाम की एक बूढ़ी सय्यारी ने चेहरा पढ़कर कह दिया था कि 'माशा अल्ला ताजो तख़्त का वारिस आया। यह लड़का अपनी ग्यारहवीं साल गिरह से पहले ही नवाब बन चुकेगा।'

चाँदी वाली बारादरी में ५ जुलाई, १८५७ को बिरजीसक़द्र की ताजपोशी हुई थी। यह काम चन्द वतनपरस्तों के दामन के साए में हुआ था जिसे ख़ामोशी के साथ पूरा किया गया था। ६ जुलाई, १८५७ को इस बात का शहर में आम एलान हुआ था। शाहज़ादे के सर पर जनरल बरकत अहमद जैसे जाँबाज़ ने ताज पहनाया था। इक्कीस तोपों की सलामी दी गई और राजे-रईसों ने बेशक़ीमती तलवारें नज़र में दीं। और बेगम हज़रतमहल को 'जनाब आलिया' का मरतबा हासिल हुआ यह सब कुछ उन्हीं के दम का ज़हूरा था। काम माँ का था,

नाम सिर्फ़ बेटे का था। इस दरबार में राजा जय लाल सिंह युद्ध मन्त्री बने। बेगम के कामदार अली मुहम्मद खाँ उर्फ़ मम्मू खाँ नसीरुद्दौला को मुख्य न्यायाधीश का पद मिला, शरफुद्दौला प्रधान मन्त्री हुए, राजा बालकृष्ण को वित्त विभाग सौंपा गया, नवाब इब्राहीम दीवान हुए और सल्तनत की संरक्षिका बेगम हजरतमहल हुईं। बिरजीसकद्र के नाम का सिक्का, उसकी हुक्मशाही मुहरे बनीं और फ़ौज मे तेरह नयी पलटनों को भरती किये जाने का हुक्म हुआ।

जो वो चौथा शहजादा है रश्के बद्र,
उसे लोग कहते है बिरजीसकद्र,
वो चौदह बरस का है कुछ शक नही,
कहूँ क्या कि है वो कही का कही,
मिलाऊँ जो हजरत से लफ्ज़े 'महल',
तो नाम उसकी माँ का खुले बरमहल.
जो बिगड़ी थी आगे से अंग्रेजी फौज,
उसे ले गई है जैसे दरिया की मौज,
वो यह कब्जए मुफ़सिदा मे है आह,
बनाया है अपना उसे—बादशाह। (हुस्ने अख्तर)

फिर इसी बादशाहत में लखनऊ की ईंट से ईंट बज गयी। हिन्दुस्तानी सेना आग पी-पीकर गोले उगलने लगी थी और उधर अंग्रेजी तोपों ने अवध के चेहरे पर ख़ाक उड़ा दी। इसी कशमकश में अवध के शाही ख़ानदान टूटे हुए हार की तरह मोतियों में इधर-उधर बिखर गए। जब शहर पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा होने लगा तो मौलवी डंकाशाह ने दो-तीन दिन जंग में अपनी जान इस तरह फँसाए रखी कि जिससे बेगम हजरतमहल को अपने बेटे को लेकर भागने का पूरा मौक़ा मिल जाय। और इस तरह वो बरतानिया शिकंजों से बच गई।

अंग्रेज़ों ने इन वतनपरस्त माँ-बेटों को अपना जानी दुश्मन समझ लिया था और इनकी आबरू को धूल में मिलाने में कोई कसर न उठा रखी।

लखनऊ से भागकर जब ये दोनों माँ-बेटे नेपाल में रह रहे थे तब वहीं बिरजीसक़द्र की शादी शाहज़ादे मिर्ज़ा दाऊदबेग की बेटी मुख़्तारुलनिसा से सन् १८६६ में हुई। ससुराल में बहू को मेहताब आरा का ख़िताब मिला। सन् १८७९ में बेगम हज़रतमहल के इन्तक़ाल हो जाने के बाद ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से इन लोगों का क़ुसूर माफ़ कर दिया गया। आज़ाद होकर मिर्ज़ा बिरजीसक़द्र कलकत्ते अपने बाप के पास पहुँचे और दो साल रहे। वहीं किसी दुश्मन ने इनको ज़हर मिला खाना खिला कर मार दिया। और इस तरह अवध के ताजदारों की आख़िरी कड़ी भी टूट गई। बिरजीसक़द्र बहादुर के इकलौते बेटे मेहरक़द्र थे, जिनका वंश आज भी है।

अवध की बेगमें

अवध की नवाबी ने अठारहवीं सदी के मध्य से उन्नीसवी सदी के मध्य तक ऐसी धूम मचाई कि 'नवाबी' शब्द सिर्फ़ एक शब्द ही नहीं रह गया, किसी अदब, किसी अन्दाज़ की परिभाषा भी बन गया। नवाबी के वो नमूनेदार क़िस्से आज भी लोगों का दिल बख़ूबी बहलाते हैं। नवाबी की शानदार पालकी हमेशा तहज़ीब के कन्धों पर चली है। इस पालकी का परदा कभी किसी ने नहीं उठाया और उसे न उठाना ही ठीक रहा। कर्नल स्लीमन ने जब इस बेअदबी की एक ज़रा-सी कोशिश की तो वो ग़रीब इस बुरी तरह बदनाम हुआ कि आज तक लोग उसके नाम को लानत भेजते हैं।

हाँ तो इस नवाबी पीनस पर जो ज़रदोज़ी का गुलाबी दुपट्टा पड़ा हुआ है वो बेगमात अवध की आबरू है। शाने नवाबत, अवध की उन बेगमों ने इस दिल-कश दास्तान की कलियों पर अपने हाथों की मेंहदी का गुलनारी रंग निचोड़ दिया है और उस रंगे बहार की चर्चा भी उतनी ही रंगीन है।

दबदबा 'नवाब बेगम' का

अवध के दर्जन भर नवाबों मे से दूसरे नवाब अबुल मंसूर ख़ाँ उर्फ़ सफ़दरजंग ही ऐसे थे जिन्होंने सिर्फ़ एक शादी की थी। इस तरह सारी नवाबी में वो अपने आप में अकेली मिसाल कहे जा सकते है। नवाब सफ़दरजंग की उस इकलौती बीवी का नाम सदरुन्निसा था और जो नवाब सआदत ख़ाँ बुरहानुलमुल्क की बेटी थी। ससुराल में उन्हें नवाब सफ़दरजहाँ बेगम का ख़िताब मिला था और फिर वो नवाब बेगम के नाम से मशहूर हुईं।

नवाब बेगम को अवध की सबसे ख़ुशनसीब और अकेली मिसाल बेगम कहना चाहिए जिसकी तीनों पीढ़ियों ने नवाबी की शान पायी थी। उनके बाप

नवाब थे ही फिर उनके शौहर हाकिमे सल्तनत हुए जिनके बाद उनके बेटे तख़्तो मसनद पर तशरीफ़ लाए। अपनी ज़िन्दगी के तीनों पहर शानो-शौकत से गुज़ारने वाली नवाब बेगम बड़ी अक़्लमन्द और दानिशमन्द महिला थी। जिस वक़्त शाहे दिल्ली अहमदशाह के बुलावे पर वो अपनी फ़ौज के लश्कर और अपने घायल शौहर को लेकर फ़ैज़ाबाद से जा रही थी, सुल्तानपुर के पास नवाब सफ़दरजंग का इन्तक़ाल हो गया। इस तरह रास्ते में सुहाग लुट जाने पर भी इस औरत ने बड़े सब्र और बेहद होशियारी से काम लिया और इस राज को राज़ ही रखा। फ़ैज़ाबाद मे जब अपने महल की ड्योढ़ी में हाथी की पीठ पर कसे सुखपाल में सफ़दरजंग की लाश लेकर उतरी तो उन्होंने पहले अपने बेटे शुजाउद्दौला से सलाह करके फ़ौज और क़िले की कमान मजबूत कर ली तब जाकर महल में से रोने-पीटने की आवाज़ें उठीं। नवाब बेगम अगर अपने सूबे का बन्दोबस्त इस ख़ूबसूरती से न सँभाल लेतीं तो शहर में बग़ावत हो जाती और तख़्त हाथ-बेहाथ हो जाता। ये सन् १७५४ की बात थी।

जब नवाब सफ़दरजंग नहीं रहे तो उनके बेटे शुजाउद्दौला ने तख़्ते अवध की मसनद सँभाली। नवाब बेगम बड़ी जेहनमन्द थी लेकिन अक्सर ग़रीबों और दुखियों की मदद के मौक़े पर मासूम हो जाया करती थीं। उनकी एक लौंडी के पास ख़ज़ाने की चाबियाँ रहती थीं। उस नेकबख़्त को जब कभी रुपये-पैसों की जरूरत होती तो वो बेगम से सिक्कों को धूप दिखाने की बात करती—"मलिकए आलिया, हर चीज को रखे-रखे सील खा जाती है तो फिर सिक्के भी सदमा जरूर उठाएँगे, इसलिए बेहतर है कि उन्हें वक़्त-वक़्त पर धूप दिखा दी जाए!"

फिर क्या था, फ़ैज़ाबाद के महल की छत पर चाँदी-सोने के सिक्के बिछा दिए जाते और उसके बाद वो बाँदी रुपयों के तोड़े (गिनती की अलग-अलग थैलियाँ) लगाती तो कुछ जरूर ही कम निकलते और इस पर उस कनीज़ का जवाब ये होता कि हर चीज धूप पाकर कुछ न कुछ सूख जाती है तो इनमे से कुछ रुपये अगर धूप में ख़ुश्क हो गये तो क्या अजब! नवाब बेगम सब समझते हुए भी इस बात का कुछ बुरा नही मानती थीं, सिर्फ़ हँसकर टाल देती थीं।

सन् १७६४ में शुजाउद्दौला को बक्सर की लड़ाई में मीर क़ासिम की तरफ़ से लड़ने जाना था। इस मुक़ाबले में अंग्रेज़ों से मोर्चा लेना कोई आसान बात नहीं थी लेकिन नवाब बेगम की नवाबी का क्या कहना! उन्होंने अपने बेटे की ख़ूब-ख़ूब हौसला अफ़ज़ाई की। उन्होंने पहले भी अपने शौहर के जमाने में फ़र्रुख़ाबाद की ज़मीं के लिए अपने ख़र्च से ११ लाख ४ हज़ार अशर्फ़ियाँ दी थीं। शुजाउद्दौला अपनी माँ का बहुत अधिक आदर करते थे। बिहार की तरफ़ जंग के लिए रवाना होते समय नवाब जिस्म पर हथियार बाँधकर अपनी माँ की ड्योढ़ी में इजाज़त माँगने के लिए तशरीफ़ लाए। महल की दहलीज़ में सर पर बगुले के पंखों का-सा

रुपहले सिन का ताज पहने माँ खड़ी थीं। नवाब बेगम ने बेटे के बाज़ू पर इमाम ज़ामिन बाँधने के बाद ख़ुशबूदार गिलौरियों से महकते हुए सुर्ख़ होंठों से अपने बेटे का माथा चूमा और बड़े तम्कनत से कहा, "जाओ बेटा, हज़रत अली तुम्हारे निगहबान होंगे। मेरे लाल, चुन-चुन कर गोरे दुश्मनों को मारना, गिन-गिनकर उन विदेशी अंग्रेजों को ख़त्म कर देना मगर ख़ुदा के वास्ते मेरी पीनस उठाने के लिए बारह फ़िरंगी जरूर बचा लेना।"

हुआ ये कि बक्सर की लड़ाई में अंग्रेज़ों ने बुरी तरह शिकस्त दी, यही क्या कम हुआ कि आख़िरी लड़ाई के एक दिन पहले नवाब को एक लँगडी हथिनी पर बिठा कर भगा दिया गया था। ख़ैर, जान बच गई, मगर लेने के देने तो पड ही गए। अंग्रेज़ सरकार ने नवाब शुजाउद्दौला से ५० लाख रुपये तावाने जग वसूल किया। इस हरजाने में फ़ैज़ाबाद का ख़ज़ाना लूट लिया। २० लाख की रक़म तो शुजाउद्दौला की ब्याहता बीवी बहू बेगम ने अपने जेवर उतार कर पूरी की, यहाँ तक कि अपनी सुहाग की नथ तक उतारकर नवाब के आगे रख दी थी और इसी से शुजाउद्दौला जिंदगी-भर बहू बेगम के एहसानमन्द रहे। बाक़ी भुगतान के लिए नवाब को इलाहाबाद का इलाक़ा और चुनारगढ़ का क़िला कम्पनी सर-कार के हवाले करना पड़ा और फिर तो कम्पनी सरकार का पाँव अवध सल्त-नत में ऐसा पड़ा कि अंगद का पाँव बन गया।

नवाब बेगम ने जो सख़्त बात अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ कही थी वो हवा के पर लगाकर अंग्रेज़ हाकिमों के कान तक जा पहुँची और फ़ैज़ाबाद की बेगमों से उनकी दिलशिकनी हो गई। इसी बात का बदला वारेन हेस्टिंग्ज़ ने लिया और आसफ़ुद्दौला पर दबाव डालकर उसने नवाब बेगम और बहू बेगम से ज़बरदस्ती करोड़ों रुपया वसूल लिया। आसफ़ुद्दौला ने लखनऊ से अपने ख़ास नायब मुर्तज़ा ख़ाँ उर्फ़ मुख़्तारुद्दौला को इन सास-बहू से रुपया ऐंठने के लिए फ़ौज समेत फ़ैज़ा-बाद भेज दिया।

मुख़्तारुद्दौला ने अपनी चालों से बहू बेगम से तो लाखों रुपये वसूल लिए लेकिन जब नवाब की दादी हज़रत पर हाथ साफ़ करने चला तो दादी ने अपने इलाक़े के सारे ज़मींदार और राजाओं को अपने महल के क़रीब इकट्ठा करके उनकी मौजूदगी में कहा—

"मुल्क़ अवध मेरे बाप—प्रथम नवाब का है, ये आसफ़ुद्दौला के बाप का नहीं!" बात बिलकुल सच और सही थी—अवध का सूबा दिल्ली दरबार की तरफ़ से प्रथम नवाब सआदत ख़ाँ बुरहानुलमुल्क को दिया गया था जो उनके बाप थे, फिर ये मसनद उनके हक़ से ही उनके शौहर को मिली जो बाद में उनके बेटे शुजाउद्दौला यानी आसफ़ुद्दौला के बाप को मिली। और तो और, जब नवाब आसफ़ुद्दौला ने अपनी दादी के महल की तरफ़ अपनी बदनीयत फ़ौजों का मुँह

मोड़ा तो नवाब बेगम घोड़े की रकाब में पैर रखने को तैयार हो चुकी थीं और उनकी फ़ौज का रिसालदार जवाहर अली ख़ाँ ख़्वाजासरा नक़्क़ारा बजाने को था और इसमें कोई शक नहीं कि सारे सिपाही और रियाया उनकी ही तरफ़दारी करते जिससे नवाब को मुँह की खानी पड़ती लेकिन बीच में हमले हो गये। बहू बेगम की आँख से आँसू बह निकले। आसफ़ुद्दौला नवाब बेगम का इकलौता बेटा था। बेवा बहू की ममता-भरी इस फ़रियाद पर नवाब बेगम को अपना इरादा बदल देना पड़ा।

४ जून, १७६६ को नमाज़ पढ़ते वक़्त नवाब बेगम का इन्तक़ाल हुआ और, फिर फ़ैज़ाबाद में गुलाब बाड़ी में ही उनको उनके बेटे के पहलू में दफ़्ना दिया गया।

दिल्ली की दौलत बहू बेगम

नवाब बेगम की बहू अर्थात् शुजाउद्दौला की पटरानी का नाम उमत-उल-ज़हरा था। दिल्ली के वज़ीर ख़ानदान की यह लड़की सन् १७४५ में नवाब शुजाउद्दौला को ब्याही गई थी। यह शादी दिल्ली में दाराशिकोह के महल मे हुई थी। इस बिन बाप की लड़की को शहनशाहे दिल्ली ने अपनी मुँहबोली बेटी बनाकर इसे अवध के नवाब से ब्याहा था और उस शादी में लाखों रुपये ख़र्च किये थे। ससुराल में उमत-उल-ज़हरा को जनाब आलिया बहू बेगम साहिबा का ख़िताब मिला। बहू बेगम का रुतबा बेगमाते अवध की क़तार में सबसे ऊँचा माना जाता है। इन्होंने अपनी पूरी ज़िन्दगी बड़ी शानो-शौकत और तम्कनत से गुज़ारी। उनकी हुक्मरानी से फ़ैज़ाबाद क्या लखनऊ के महल भी थरथराते थे। और तो और, उनके शौहर नवाब शुजाउद्दौला भी इनके मायके की दौलत से दबते थे। चूँकि शुजाउद्दौला बड़े रसिक स्वभाव के आदमी थे, इसलिए उनकी औरतपरस्ती पर रोक लगाना बहू बेगम के बस के बाहर की बात थी। हाँ, इनका दबदबा इतना ज़रूर था कि शुजाउद्दौला अगर एक रात भी इनके महल के बाहर गुज़ारना चाहते, तो उसके लिए अच्छा-ख़ासा हरजाना वसूल करती थीं। बहू बेगम की शर्त थी कि जो रात उनके महल के बाहर गुज़ारी जाय उसकी क़ीमत के ५,००० रुपये सुबह तक उनके सरहाने पहुँचा दिए जायँ और ज़ाहिर है कि जुर्माने की इस रक़म से उनकी आमदनी उनकी जागीरों से भी ज़्यादह हो गई थी। जब तक नवाब ने अपने चलन पर क़ाबू किया कि तब तक बहू बेगम सोने के चबूतरे चुनवा चुकी थीं। उनकी ड्योढ़ी का दारोग़ा बहादुर अली ख़ाँ ख़्वाजासरा था जो उनकी जागीर की देखभाल भी करता था।

बहू बेगम के पाँव में पद्म था। दिल्ली से वो इतना मालो ज़ेवर लेकर आई थीं कि फ़ैज़ाबाद की महलसरा भर गई थी। बक्सर की लड़ाई का जो ख़र्च अंग्रेज़ों

ने नवाब से वसूला था उसके बहुत बड़े हिस्से की अदायगी तो उन्होंने की ही थी, अपने एकमात्र पुत्र आसफ़ुद्दौला की भी उन्होंने वक़्त पड़ने पर मदद की। माँ-बेटे में हमेशा अनबन रहती थी। सिर्फ़ चन्द महीनों के लिए वो हर साल आसफ़ुद्दौला की राजधानी लखनऊ में आकर रहती थीं। इस ज़माने में वो गोमती के किनारे अपने ख़ास महल सुनहरा बुर्ज में ठहरती थीं। उनको जब आसफ़ुद्दौला पहली बार मनाकर फ़ैज़ाबाद से लखनऊ लाए थे तो इस ८० मील के फ़ासले में वो रास्ते-रास्ते अशर्फ़ियाँ लुटाते आये थे।

बेगम के लखनऊ प्रवास के दिनों में दौलतख़ाना आसफ़ी से उम्दा ख़ाना बनवाकर सुनहरा बुर्ज भेजा जाता था लेकिन बहू बेगम ने कभी उस सफ़ारी खाने को हाथ नहीं लगाया उसे सिर्फ़ नौकरों में तक्सीम कर दिया जाता था। ख़ज़ानए अवध से ४०० रुपये रोज़ उनके दस्तरख़्वान का ख़र्च बँधा था जो दरबारी मौलवी उन्हें पहुँचाने जाते थे और ये तब जबकि वो सिर्फ़ दोपहर में हमेशा एक बार खाना खाती थीं। एक बार इसी बावरचीख़ाने का कुल बकाया हिसाब ८४ हज़ार रुपये हो गया था जो बाद में फ़ैज़ाबाद उनके महल पर भेजा गया। एक बार जब आसफ़ुद्दौला तंगदस्त थे बहू बेगम ने दो बरस तक उनकी फ़ौज को अपने पास से तनख़्वाह बाँटी थी और मज़ा ये कि यह कुल दौलत उनकी गुड़िया की शादी के दहेज में से निकली थी जो उन्होंने बचपन में की थी और जिसके दहेज की खिचड़ी (सोने की मोहरें और चाँदी के सिक्के) बक्सों में भरे रखे थे।

सन् १८१६ में बादशाह गाज़ीउद्दीन हैदर के शासन काल में बहू बेगम जन्नत-नशीन हुईं। फ़ैज़ाबाद के जवाहर बाग़ में उनके ही ट्रस्ट किए गए लाखों रुपयों से उनका आलीशान मक़बरा बनवाया गया।

बेगम शम्सुन्निसा—एक नादान महल

सास की नवाबी में मिल्कियत और मालिकाने की ख़ुशबू थी तो बहू की नवाबी में मासूमियत और अनजानेपन का रंग भी कुछ कम न था। नवाब आसफ़ुद्दौला की पहली शादी दिल्ली के दीवान ख़ानदान के इमामुद्दीन ख़ाँ उर्फ़ इम्तियाज़ उद्दौला की बेटी शम्सुन्निसा से हुई थी। सन् १७६९ में फ़ैज़ाबाद में हुई इस शादी में सिर्फ़ २४ लाख रुपये ख़र्च हुए थे और वो भी उस ज़माने में जब रुपये का तीस सेर गेहूँ मिलता था। इस ब्याह में शिरकत करने के लिए दिल्ली के बादशाह शाह आलम और शोलापुरी बेगम भी आई थीं।

शम्सुन्निसा लखनऊ के दौलतख़ाना शीशमहल में सात परदों में रहने वाली बेगम थीं। नवाब से उनकी अधिक बनी नहीं, इसलिए वो महल के दायरे में इस क़दर बँध कर रह गईं कि उन्हें बाहरी दुनिया की कोई ख़बर ही न [illegible] इतनी भोली और नादान थी कि उनके जैसा नादान महल बेगम[illegible] अवध में

मिलना मुश्किल होगा। उनको ये तक न मालूम था कि गेहूँ दरख़्त पर उगता है या ख़ानों से बरामद होता है। मियाँ दाराब अली खाँ ख़्वाजासरा, जो लखनऊ के एक मुहल्ले सराय माली ख़ाँ में रहता था, बेगम के महल का ड्योढ़ीदार था।

सन् १७८४ में आसफ़ुद्दौला के वक़्त में जब मशहूर अकाल पड़ा था तो कितने ही किसान और मज़दूर भूखों मरने लगे थे। ऐसे में ग़रीब जनता शीश-महल के दौलतख़ाने के बाहर इकट्ठी होकर अपने सख़ीदाता नवाब के नाम की दुहाई देने लगी। रियाया के अनुरोध पर बेगम शम्सुन्निसा को भी राजवधू होने के नाते महलसराए सुल्तानी के बारजे पर चिलमन तक आना पड़ा। उन्हें मालूम हो चुका था कि जनता को इस वक़्त खाने-पीने की सख़्त मुसीबत उठानी पड़ रही है। आपने महल के नीचे खड़ी भीड़ का सलाम क़बूल फ़रमाया और फिर बड़े प्यार से पूछा, "क्या तुम लोग खाने को कुछ भी नहीं पाते हो?" आलम ने जवाब दिया, "मालकिन, कुछ भी नहीं।" ऊपर से फिर सवाल पूछा गया, "अरे क्या, कुछ भी नहीं यानी क्या हलवा-पूरी भी नहीं खा सकते?"

इतना सुनते ही भीड़ दुहाई दे-देकर रोने लगी और आसफ़ुद्दौला ने बेगम को वहाँ से फ़ौरन रफ़ा-दफ़ा करवा दिया। उसके बाद बड़े इमामबाड़े का नक़्शा बनाया जाने लगा और इस तरह २२,००० लोगों की रोज़ी-रोटी का एक अजीब इन्तज़ाम हुआ।

विधवा होने के बाद अवध के प्रथम बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के अहद में बेगम शम्सुन्निसा परताप गंज की अपनी ही जागीर में रहती थीं। इलाहाबाद में उनका इन्तक़ाल हुआ और फिर उनकी लाश को लखनऊ लाकर दफ़नाया गया।

क़ुदसियामहल—ख़ाली दामन भरते हाथ

लखनऊ के इलाक़ाए छतर मंज़िल में रहनेवाली बेगमों में क़ुदसियामहल जैसी ग़रीबपरवर और दिलदार बेगम दूसरी नहीं हुई। बादशाह नसीरुद्दीन हैदर की इस महबूब मलिका की सख़ावत के डंके सारे शहर में बजते थे। उनके दरे-दौलत से कोई कभी ख़ाली हाथ नहीं लौटता था। इस दरियादिली की एक वजह यह भी थी कि बेगम एक मामूली घर की लड़की थी और उन्हें ग़रीबी का दुख-दर्द मालूम था।

बेगम को वो दिन याद आ गए जब लड़कपन में उनके मकान में एक नजूमी मीर अनवर अली इनके बाप से मिलने आए थे। बेगम बचपन में बिस्मिल्ला ख़ानम थीं और उन्ही के हाथों मकान के अन्दर से गिलौरियाँ बाहर भेजी गई थीं। जब ड्योढ़ी में आकर उसने मीर साहब की तरफ़ पान के बीड़े बढ़ाए तो उन्होंने हाथ पकड़कर लकीरें पढ़ना शुरू कर दिया। इसी बीच घर के बड़े लोग आकर बैठ चुके थे। हाथ देख चुकने के बाद मीरसाहब ने बड़े अदब से बिस्मिल्ला

ख़ानम को आदाब बजाया और इतना ही कहा, "बेटी, ख़ुदा जब आपको मलिका का मर्तबा दे तो इस ग़रीब को न भूल जाइयेगा !" घरवाले उसे बेसिर-पैर की बात समझकर मज़ाक़ उड़ा बैठे थे मगर अब तो सच क़ुदसियामहल की निगाहों में मुस्करा रहा था। फिर क़ुदसियामहल ने बड़ी इज़्ज़त से उस बूढ़े ज्योतिषी मीर अनवर अली को महल में बुलवाया और दस हज़ार की थैली नजर देकर उन्हें सलाम अता किया।

क़ुदसियामहल की इस परोपकारी दास्तान का कोई अन्त नही है। हर रोज़ सुबह सवेरे जब उनके महल 'कोठी दर्शन विलास' के दारोग़ा क़ादिर अली ख़ाँ साहब ५०० रुपये बेगम की तरफ़ से फ़क़ीरों और ग़रीबों में बाँट दिया करते थे तब बेगम साहिबा दस्तरख़्वान पर नाश्ते के लिए बैठती थीं। शाही ख़ज़ाने की तरफ़ से उनके बावर्चीख़ाने का ख़र्च १४०० रुपये रोज़ बाँधा गया था और उसमें से भी एक बड़ा हिस्सा मोहताजों को खिला दिया जाता था।

लखनऊ का एक नामी रँगरेज़, जो क़ुदसियामहल के दुपट्टे रँगता था, एक दिन महल के दरवाज़े पर आकर खड़ा हो गया। उसने अपनी बेटी की शादी के लिए दरख़्वास्त की। ज़रूरत पूछने पर उस बेचारे ने सिर्फ़ चार सौ रुपयों की फ़रमाइश की। इस बात पर क़ुदसियामहल को बेहद रंज और अफ़सोस हुआ और हुक्म दिया कि आज से 'दर्शन विलास' की ड्योढ़ी पर सूरत मत दिखाना। इधर रँगरेज़ के होश गुम हो गए कि आख़िर मुझ ग़रीब से ऐसी कौनसी ख़ता हो गई। बाद में जाहिर हुआ, बेगम इस बात पर नाराज़ हो गई हैं कि इस क़दर कम रक़म के लिए हमारे आगे दामन क्यूँ फैलाया गया और क्या ये हमारी तौहीन नहीं है जबकि इतनी छोटी ज़रूरत तो शहर का कोई मामूली आदमी भी रफ़ा कर सकता है। फिर उसे महल से कई हज़ार रुपये बेटी की शादी के लिए देकर बिदा किया गया।

एक दिन एक नौशा अपनी नयी ब्याही दुल्हन लिए उनकी महलसरा के पास से गुजरा। बरात में रौशन चौकी थी, बाजे भी बज रहे थे। सब कुछ था मगर ग़रीब की बेटी थी, इसलिए दहेज कुछ भी नहीं था। जब महल की कनीज़ों ने बेगम को कुल हाल बताया तो आपने फ़रमाया—"हमारे महल में दुल्हन को दो घड़ी के लिए रोक लिया जाए।" अब क्या था, चोबदार और ख़िदमतगार इधर-उधर दौड़ रहे थे। कहारों ने दुल्हन की पालकी कोठी 'दर्शन विलास' की दहलीज़ में लाकर रख दी। ख़ादिमाएँ दुल्हन को गोद मे उठा लाईं और दीवानख़ाने में लाकर बिठा दिया जहाँ क़ुदसियामहल मसनदनशीन थीं। चन्द इशारों में दुल्हन को जड़ाऊ ज़ेवरों से लाद दिया गया और नौशे को तमाम नज़रें दिला दी गईं। जब कोठी 'दर्शन विलास' से निकलकर दूल्हा और दुल्हन आगे बढ़े तो बरात का कायापलट हो चुका था क्योंकि वो ग़रीब अब मालामाल हो चुके थे।

नवाब क़ुदसियामहल ने बादशाह की एक बात दिल में लग जाने पर संखिया चाट कर अपनी जान दे दी। ये २१ अगस्त, १८३४ की बात है। उन्हें लखनऊ स्थित इरादतनगर कर्बला में दफ़न कर दिया गया।

मलिका किश्वर साहिबा—परदे से परदेस तक

अवध के चौथे बादशाह सुरैयाजाह अमजद अली शाह की ख़ास महल नवाब ताजआरा बेगम कालपी के नवाब हसीमुद्दीन ख़ाँ की बेटी थीं और मलिका किश्वर उनका ख़िताब था। नवाबी दौर में मलिका किश्वर जैसी शर्मदार और सलीक़ामन्द बेगम का जवाब नहीं मिलता है। मिर्ज़ा क़ैसर ज़मां वाजिद अली शाह उन्हीं की सन्तान थे।

मलिका किश्वर के बारे में मशहूर है कि सुबह सोकर उठने पर जब वो ठण्डे और गुनगुने पानी के हौज़ पर उतरती थी तो वहाँ उन्हें वही बूढ़ी ख़ादिमाएँ नह-लाती थीं जो उन्हें क्वाँरेपन से नहलाती आई थीं। उन ख़ादिमाओं के अलावा किसी भी औरत ने उन्हें चेहरे और हाथों के अलावा नहीं देखा था। अवध के इतिहास में सिर्फ़ मलिका किश्वर ही थी जिन्होंने ख़्वाजासराओं (नपुंसकों) की ख़िदमत को कभी पसन्द नहीं किया इसलिए उनके महल में कनीज़ों के अलावा और किसी का गुजर नहीं था। उनकी ड्योढ़ी के बरामदों में पिस्तौल बाँधकर कुछ तातारी औरतें टहलती रहती थी और सदर दरवाजे पर करौलीबन्द पहरे-दार तुर्किनें तैनात रहती थीं।

मलिका किश्वर की शानो-शौकत का ये आलम था कि वो लखनऊ में ही अलग-अलग मौसम में अलग-अलग स्थानों पर रहती थीं। जाड़े में छतरमंज़िल, गर्मियों में चौलक्खी कोठी और बरसात मे हवेली बाग़ द्वारकादास उनके निवास-स्थान हुआ करते थे। अगर कभी चमन में घूमने निकलती थीं तो सौ-दो सौ ख़ादिमाएँ उनके पीछे चलती थीं।

सवेरे उनके दस्तरख़्वान पर पच्चीस तरह की बेहतरीन जायकेदार तश्तरियाँ नाश्ते के लिए चुनी जाती थीं मगर मलिका किश्वर उनमें से पाँच लुक़्मे खाकर, चाँदी के गिलास में मोतियों का शरबत पीकर उठ जाती थीं। उसके बाद वो तोशहख़ाने (ड्राइंगरूम) में तशरीफ़ लाती थीं जहाँ दरपर्दा बैठकर चिलमन के उस पार बैठे मौलवी साहब से कलामेपाक सुनती थीं।

दोपहर के खाने पर जब वो बादशाह के साथ बैठती थीं तो महल के सदर फ़ाटक पर सारे शहर को इस बात की इत्तिला देने के लिए एक तोप दागी जाती थी और बराबर शहनाई बजती रहती थी और एक बार जो पोशाक जिस्म छू लेती थी उसे दुबारा पहनने का तो कोई सवाल ही नहीं था। वह कपड़े बाँदियों और ख़वासों में बाँट दिए जाते थे। मगर उससे पहले उन पर बना हुआ सच्चा

गंगा-जमुनी काम उधेड़ दिया जाता था। इसके साथ ही सिलाई की बखिया भी उधेड़ दी जाती थी ताकि उनके जिस्म की रूपरेखा कभी आँकी न जा सके।

बेगम चढ़ती रात जब अपनी ख़्वाबगाह में जातीं तो अक्सर क़िस्सागो औरतों का एक झुण्ड कोर्निश बजाकर फ़र्श पर बैठ जाता था। वो क़िस्सा कहने वालियाँ मलिका के मूड के मुताबिक कहानियाँ सुनाती थी। मलिका किश्वर को ज़ेवरात में जवाहराती गहने ज़्यादा पसन्द थे। बेवा हो जाने के बाद भी उन्होंने सिर्फ़ सुहाग की नथ से ही परहेज़ किया वरना बाक़ी ज़ेवर अक्सर उनके जिस्म की ज़ीनत बन जाया करते थे।

मलिका किश्वर के बारे में यह बात भी मशहूर है कि उन्होंने विना सख़्त जरूरत के कभी अपने दरे-दौलत से बाहर क़दम नहीं रखा था। लेकिन उन्हें क्या मालूम था कि अपने बेटे वाजिद अली शाह का तख़्त-ओ-ताज वापस माँगने के लिए उन्हें एक दिन महारानी विक्टोरिया के पास लन्दन तक जाना पड़ेगा।

उसी असफल यात्रा की वापसी के दौरान मलिका किश्वर का देहान्त २१ फरवरी १८५७ को हो गया। पेरिस में मरने वाली अवध की इस मलिका को पेरिस की ही मिट्टी नसीब हुई।

नवाबी के नमूने

नवाब आसफ़ुद्दौला अपनी दानशीलता, वास्तुप्रियता और अनोखे तौर-तरीक़ों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। सच कहा जाए तो लखनऊ की सरज़मीन पर नवाबी की यही पहली करवट थी, उनकी दरियादिली और दिलवरी के तमाम शगूफ़े आज भी लखनऊ में महकते है।

आसफ़ुद्दौला गोमती के दायें किनारे पर शीशमहल के दौलतख़ाने में रहते थे। यह पूरा का पूरा इलाक़ा उनके महलों, दीवानख़ानों से भरा हुआ था। एक बार आसफ़ुद्दौला शाम के वक़्त अपने दौलतख़ाने की बलाई मंज़िल पर बारजे के पास मुसाहिबों से घिरे बैठे थे। सामने संगी मस्जिद के नज़दीक एक ग़रीब बुढिया लोहे की एक तलवार लिए नवाब की नज़रे करम के इन्तज़ार में खड़ी थी। जैसे ही नवाब ने उस तरफ़ देखा उस ग़रीब मोहताज ने सलाम पेश किया। नवाब ने समझा, शायद यह अस्लिहा मुझे नज़र करने के लिए लाई है। उन्होंने एक चोबदार को भेजकर उससे तलवार मँगवा ली। उसे देखा तो पाया कि वह मामूली कच्चे लोहे की बनी हुई है इसलिए अपने मक़सद के लिए बिलकुल बेमानी थी। ऐसी बेकार की चीज को उन्होंने फ़ौरन वापस कर दिया और पुछ-वाया कि अगर उसे किसी चीज़ की दरकार हो तो बेशक उसकी वह मुराद पूरी हो सकती है मगर यह तलवार मेरे किसी काम की नहीं।

बुढ़िया ने अपनी लौटी हुई तलवार हाथों मे ले ली और मुँह से कुछ न कहा। अब वह सिर्फ़ उसे उलट-पलटकर ग़ौर से देख रही थी। नवाब आसफ़ुद्दौला को उसकी इस हरकत पर बड़ी हैरानी हुई। वहीं से पूछा, "क्या तुम्हें शक है कि हमने इसे बदल लिया है, या तलवार में से कुछ निकाल लिया गया है ?" बुढ़िया ने नम निगाहों से अर्ज़ किया, "बन्दापरवर, हम ग़रीब और मुहताज यह सुनते थे कि आसफ़ुद्दौला पारस हैं मगर मेरी तक़दीर, कि मेरी तलवार आपके हाथ में पहुँच-

कर भी लोहे का लोहा ही रही ।"

यह सुनकर आसफ़ुद्दौला मुस्कराये और उसी दम उस ग़रीब का तोहफ़ा सर-आँखों पर क़बूल कर लिया । फिर उस तलवार के वजन के बराबर सोने की मोहरें उस बुढ़िया को दिलवा दीं । वह बेवा औरत अपने दामन में अपनी उम्र-भर का इन्तज़ाम लेकर दुआएँ देती हुई दौलतखाने से चली गई ।

बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर अवध के पहले छत्रपति थे जिन्होने नवाबी में पगड़ी उतारकर ताज पहना था । उनके शासन काल में लखनऊ की शान-शौकत ने चार चाँद लग गये थे । वह बड़े नेक नीयत इंसान थे। उन्होंने अपने पास से दहेज देकर सैकड़ों ग़रीब घर की बेटियों की शादियाँ करवा दी थीं ।

एक रोज सुबह-सवेरे वो गोमती के किनारे हवा खाने निकले तो एक ग़रीब दुखियारी बेवा अपनी जवान जहान कुँवारी लड़की को लिए सरे राह खड़ी थी । चाँद-सा बदन, सुरमई बादलों जैसे मैले-फटे कपड़ों से किसी क़दर ढक नहीं पा रहा था । बादशाह का तामजान वहीं रुक गया, सोचा क्या हमारे लखनऊ में ऐसे भी बेकस और मजबूर लोग हैं और उन मुहताज माँ-बेटियों के नज़दीक जाकर उनसे उनकी मुश्किल व मुराद पूछी ।

उसी दिन छतर मंज़िल में पहुँचते ही बादशाह ने अपने वज़ीर मोतमुद्दौला आग़ामीर को यह हुक्म दिया कि ख़ज़ाने से ५०० अशर्फ़ियाँ उस अनाथन के घर सूरज डूबने से पहले पहुँचा दी जायें ताकि वह ग़रीब अपनी बेटी के ब्याह की तैयारियाँ शुरू कर दे । रुपये में तीन अठन्नियाँ भुनाने वाले वज़ीर नवाब आग़ा-मीर को इतने धन का एक निर्धन के घर अचानक पहुँच जाना बहुत खटका । उन्होंने नवाब की नवाबी का नशा उतारने के लिए एक चाल खेली । शाम होते-होते शाहे अवध जब अपने महलसरा से निकल रहे थे आग़ामीर ने वो ५०० सोने के सिक्के दहलीज़ के फ़र्श पर बिछवा दिये ताकि बादशाह की निगाह में आये कि एक मामूली इंसान के लिए यह रक़म किस क़दर ज्यादा है ।

मगर जब बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की निगाह पड़ी तो उन पर कुछ उल्टा ही असर हुआ । संगमरमर के चौकों पर बिखरी हुई वो अशर्फ़ियाँ उन्हें बहुत कम महसूस हुईं, यह कहते हुए वो अपने सुखपाल पर बैठ गये ।

"मोतमुद्दौला, शादी के हक़ में यह रकम बहुत कम है । इसे हमारी तरफ़ से दूना कर दिया जाय ।"

चार कहार सुखपाल को कन्धे पर लेकर लाल बारादरी की तरफ़ चल दिये और वजीर मियाँ मुँह देखते खड़े के खड़े रह गये ।

एक रोज नवाब आसफ़ुद्दौला अपने ऐशबाग़ में टहल रहे थे । उस समय चौदह साल का एक लड़का एक पिंजरे में एक जोड़ा कबूतर लेकर उनके नज़दीक

आया। नवाब साहब ने उससे वहाँ आने का सबब पूछा तो उसने सर झुकाकर कबूतरों का जोड़ा उनकी नज़र कर दिया। उन मामूली कबूतरों की क़ीमत समझते हुए नवाब ने नौकर से एक रुपया उस लड़के को दे देने के लिए कहा। इस पर वो ग़रीब लड़का आँख में आँसू भरकर बोला, "हुज़ूर, मैं सैयदज़ादा हूँ, कोई चिड़ीमार नहीं। एक महीना पहले मेरा बाप मर गया। मेरे घर में इन दो कबूतरों के सिवा और कुछ भी नहीं था। दो रोज़ फ़ाक़े करने के बाद मैं ये जोड़ा लेकर आपकी ख़िदमत में हाज़िर हुआ हूँ।"

नवाब आसफ़ुद्दौला को यह सुनकर बड़ा अफ़सोस हुआ। उन्होंने उसी वक़्त उस लड़के को चाँदी के सौ सिक्के दिलवाए। जब वो लड़का रुपए की थैली लेकर चला तो बाग़ के दारोग़ा ने हँसकर कहा, "बड़े नसीबों वाले हो, दो टके के माल के सौ रुपए ऐंठ लिये।" यह सुनकर नवाब ने दारोग़ा को अपने पास बुलाया और उसके कान पकड़कर कहा, "क्या हम नहीं जानते कि माल दो टके का है।"

यह तो नवाबी की शुरुआत थी। बाद में लखनऊ के नवाबों को परिन्दों का इस क़दर शौक़ हुआ कि आज तक वहाँ की मुर्ग़-बांबी-कबूतरबाज़ी और बटेरबाजी के चर्चे हुआ करते हैं।

नवाब सआदत अली ख़ाँ के दोस्त जनरल मार्टिन अव्वल दर्जे के मुर्ग़बाज़ थे। बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के वक़्त में रेज़ीडेंसी की मेज़ों पर बटेरबाज़ी होने लगी थी। परिन्दाबाज़ी का शौक़ चरम सीमा पर तब पहुँचा जब वाजिद अली शाह को तख़्ते हुकूमत हासिल हुआ।

जाने आलम के चिड़ियाख़ाने में शुतुरमुर्ग़, फ़ीलमुर्ग़, सारस, बगुले, तोते, मैना, बुलबुल, हंस, मोर और चकोर बहुत बड़ी गिनती में पले थे। छतरमंज़िल और क़ैसरबाग़ के कमरों में पीतल के ख़ूबसूरत पिंजरे झूलते रहते थे जिनमें रंग-बिरंगे पंक्षी पले रहते थे। गोमती के उस पार दिलाराम कोठी में बहुत बड़ा कबूतरख़ाना था जिसमें शीराजी, नसावरी, गिरहबाज़, लोटन, चोया, चन्दन और गुली कबूतरों की भरमार थी। इन कबूतरों पर तीन सौ उस्ताद नौकर थे। हर रंग के कबूतर अलग-अलग अपने कमाल दिखाया करते थे और सुबह से शाम तक काबुकें (कबूतरों के बैठने का अड्डा) और छीपी (रंगीन रूमाल बँधी हुई छड़ी) लिए कबूतरबाज़ उन्हें हुनर सिखाया करते थे।

एक बार बादशाह हवादार पर सवार होकर सैर को निकले तो उस्ताद ने चार हज़ार कबूतरों का एक दस्ता इस तरह आस्मान पर उड़ा दिया कि वो बराबर बादशाह के सर पर साया किए रहा। वो कबूतर सवारी के साथ-साथ एक ही रफ़्तार से उड़ते रहे और जिस वक़्त सवारी महल की ड्योढ़ी पर आकर ठहरी एक आवाज़ में पूरा झुण्ड उतार लिया गया। नवाब के चिड़ियाख़ाने में

ऐसे भी शीराज़ी कबूतर थे जो अपना जिस्म फुलाकर गज़-भर का पिंजरा घेर लेते थे और ऐसे गुली कबूतर भी थे जो बारह बरस की लड़की के हाथ की चूड़ी में से निकल जाते थे। शाहे अवध ने एक बार रेशम परे कबूतरों का एक जोड़ा २४ हज़ार रुपए में और सफ़ेद मोर का एक जोड़ा ११ हज़ार रुपए में ख़रीदा था।

नवाब वाजिद अली शाह के वक़्त में अवध की सल्तनत का रंग वैसे ही रौशन हुआ था जिस तरह चराग़ बुझते वक़्त एक बार भड़ककर फिर गुल होता था। परिन्दों की सौदेबाज़ी भी नवाबी का आसमान छू रही थी। एक बार एक ज़रूरत-मन्द इन्सान पर्देदार पिंजरे में एक जोड़ा परिन्दा लेकर शाहे अवध के दरबार में आया। उसने शाही दस्तूर के मुताबिक़ तख़्ते-सुलतानी के क़रीब कोर्निश बजाई और बादशाह के लिबासे शाही का दामन अपनी आँखों से लगा लिया।

बादशाह निहायत ख़ुश हुए और उस पिंजरे की तरफ़ इशारा करके बोले, "यह क्या है और तुम्हें क्या चाहिए ?"

उस अजनबी ने कुछ डरते, कुछ उभरते लहजे में कहा, "जहांपनाह, इसमें उक़ाब (गरुड़) का एक जोड़ा है। अगर हुज़ूरेआला उसे क़बूल कर लें तो यह हमारा मुक़द्दर होगा।"

बादशाह ने मुस्कराकर अपनी रजामन्दी दे दी। जब उसकी क़ीमत के बारे में दरबारियों ने बातचीत की तो बात १०,००० रुपये पर जाकर ठहरी, चिड़ियों का मोल आसमान छू रहा था, इस बात पर पुराने वज़ीर अमीनुद्दौला का माथा ठनका। वह पहले से ही उन चिड़ियों की नस्ल के असल होने में शक कर रहे थे। उन्हें हक़ीक़त मालूम करने में कुछ देर नहीं लगी, इसलिए उन्होंने बादशाह से यह सौदा टाल देने के लिए धीरे से कहा। मगर नहीं, वाजिद अली शाह जो कह चुके थे सो कह चुके थे।

छतर मंजिल में अपनी माँ के तहख़ाने में रक्खे एक बक्स से नवाब ने मोहरें निकलवा मँगवाईं और उस आदमी का हक़ अदा करके उसे विदा कर दिया। वो परिन्दे महल के चिड़ियाख़ाने में एक ख़्वाजासरा के हाथों भेज दिये गये।

जब वजीरे आज़म ने फिर उन चिड़ियों की क़िस्म के बारे में कुछ कहना चाहा तो शाहे अवध ने हँसकर फ़रमाया, "मेरे बुजुर्ग सलाहकार, मैं बख़ूबी जानता था कि उस बंद पिंजरे में चील के एक जोड़े के सिवा और कुछ नहीं है। मगर आप ज़रा सोचिये, कि यह जानते हुए कि अगर यह भेद भरे दरबार में खुल गया तो उस शख़्स की जान को भी ख़तरा पहुँच सकता है उस आदमी ने कितनी हिम्मत और दिलेरी से झूठ का यह सौदा किया। अपनी जान पर खेल कर कुछ दौलत हासिल करने वाले उस अजनबी पर ख़ुदा जाने आज क्या ज़रूरत आन पड़ी हो जो उसने अपनी मुश्किलें दूर करने की यह ख़तरनाक सूरत निकाली थी,

इसलिए मैंने परिन्दों पर से पर्दा उठने नहीं दिया क्योंकि यह उसकी इज़्ज़त का पर्दा था।

नवाब वाजिद अली शाह ने जब शहर लखनऊ छोड़ा तो उनकी कोठी दिलाराम से सवा लाख कबूतर बरामद हुए, मगर अफ़सोस कि अनमोल भाव से ख़रीदे गए इन परिन्दों को अंग्रेज़ अफ़सरों ने कौड़ियों के मोल नीलाम कर दिया।

लखनवी अदब और अंदाज़

लखनऊ के पुराने रंग और रिवाजों में यूँ तो तमाम तरह के शौक़ और बाज़ियों के नाम गिनाए जाते हैं लेकिन इन सब में लखनऊ की लफ़्फ़ाज़ी और लतीफ़ेबाज़ी सबसे लाजवाब मानी जाती है। भले ही आज क़िस्साबयानी ने उन दास्तानों पर ऐसी रोग़नी पर्तें चढ़ा दी हैं और वो महज़ कही हुई कहानियाँ बन चुकी हैं लेकिन इन तहज़ीबों की तह में अवध के दरबारी अदब का आईना एक अलग अन्दाज़ में झिलमिलाता है। उस सामन्ती ज़माने में राजा-नवाबों के मुसाहिबों ने अपनी बात को ऐसे साँचे में ढालकर कहने की तमीज पाई थी जो वेग को भी तिनका बनाकर छोड़ती थी। इस ज़बान की सबसे बड़ी तारीफ़ ये हुआ करती थी कि जुमले के ये तीर ख़ाली नहीं जाया करते थे।

दरबारी अदब

ये बात सन् १८०५ की है। अवध के छठे नवाब सआदत अली ख़ां को इमारतें बनवाने का और हुक़्क़ा पीने का बड़ा शौक़ था। उनके वक़्त में लखनऊ में 'क़तील' नाम के एक प्रसिद्ध शायर हुए हैं। क़तील फ़रीदाबाद के खत्री घराने की सन्तान थे जिन्होंने शिया मज़हब अख़्तियार कर लिया था। उस्ताद क़तील ने लखनऊ में ही अपनी मशहूर किताब 'हल्फ़े तमाशा' लिखी थी। क़तील साहब अपने घर से बहुत कम निकलते थे और दरबार की हाज़िरी तो उन्हें बिलकुल ही नापसन्द थी। नवाब ने उनको कई बार अपने महल में देखना चाहा लेकिन वो इतने आज़ाद तबीयत थे कि कभी न गये।

एक बार जब शाही फ़रमान भेजकर उन्हें इज़्ज़त के साथ कोठी फ़रहतबख़्श में बुलाया गया तो उस ग़ज़लनवीस ने साफ़ कहलवा दिया—

"हुज़ूर, मुझे आने में कुछ इनकार नहीं मगर मुश्किल ये है कि आपके साथ

तम्बाकू का ज्वालामुखी ज़रूर होगा और वो मुआ हुक़्क़ा मेरी बर्दाश्त के बाहर की चीज है। दूसरे, आपके सिर पर दस्तार (पेचदार पगड़ी) रहती है, उसके पेचो-खम मे मेरा दिलो-दिमाग़ उलझकर रह जायेगा और शेर कहने की ताब ख़त्म हो जायेगी। तीसरे, जनाब हर वक़्त जिन ख़ुशामदियों से घिरे रहते है मुझे उनकी एक-एक की शक्ल से नफ़रत है। क्या ये मुमकिन है कि सिर्फ़ आप और मैं इस तरह मिल सकें जहाँ ये तीनों मुसीबतें दरम्यान न हों।"

सआदत अली ख़ा ख़ुद बड़े अदीब थे और शेरो-सुख़न के रसिया थे, इसलिए हँसकर तीनों शर्तो पर राजी हो गए और 'क़तील' को अपनी मुलाक़ात से माला-माल कर दिया।

सल्तनत का सुहाग

इसी तरह की एक दूसरी घटना भी उसी जमाने की है। महलबख़्श मे एक से एक गुनवन्तों का मेला लगा रहता था, मगर शहर मे ख़्वाजा अमीर अली जो बड़े गवैये थे और अपने ही घर मर्सियाख़्वानी भी करते थे। कभी क़स्रउल सुल्तानी (राज-मन्दिर) मे तशरीफ़ नही लाए। एक बार बसन्त के मेले पर बहुत बुलाए जाने पर भी जब मीर अली अपनी ऐंठ मे तुनके रहे तो नवाब सआदत अली खा को बहुत बुरा लगा और उन्होने कहला दिया, "अमीर अली साहब, अगर आप सैयद है तो मै भी हकीमे वक़्त हूँ और मेरे महल मे तो सैयदो का हजूम रहता है।"

सैयद अमीर अली साहब अपनी तौहीन का ये आलम बर्दाश्त नही कर सके। सरकारे दुआलम के बन्दे थे, अपना साज-ओ-सामान बाँधने लगे और दक्खिन जाने का इरादा कर लिया।

इन्शा अल्ला ख़ां, जो अमीर अली के दोस्त भी थे और नवाब साहब के मुँह-लगे भी, कोई सूरत ऐसी तलाशने लगे कि ऐसा गुनी आदमी शहर से बाहर न चला जाये।

एक रोज जब सआदत अली ख़ा बडे इत्मीनान से फ़रहतबख़्श महल मे एक हौज के किनारे पड़े संगी तख़्त पर बैठकर इन्शा साहब ने उनके हुज़ूर में यह कसीदा पढा—

> "दौलत बनी है और सआदतअली बना,
> या रब बना बनी मे हमेशा बनी रहे।"

फिर कुछ रुककर बोले, "आलीजाह, आबरुए-अवध ये गुलाम अभी जब फ़रहतबख़्श से चलने को हुआ तो दिल ने कहा —अपने प्यारे नौशे की दुल्हन को जरा नजर भरकर देख लूं।

"तो हुज़ूर, सल्तनत बहू को वाकई बारह बरन में रँगी और सोलह सिंगारों में सजी पाया। देखा, सर पर झूमर है, वो कौन, मौलवी दिलदार अली ! माथे पर टीका देखा तो कौन राजा दयाकृष्ण ! कानों में दो झुमके पहने साहबज़ादे रफ़तुद्दौला और नसीरुद्दौला ! गले में नौलखा हार देखा, वो हुसैन ख़ां अलनमा। मगर मेरे आक़ा, जब ग़ौर किया तो नाक में नथ नहीं···या ख़ुदा, जो इज़्ज़त का मक़ाम है वही उजड़ी झोंपड़ी बनी हुई है। दिल धक् से रह गया कि मेरे अल्लाह, सुहाग बड़ी चीज़ है या रब उसे क़ायम रखना।"

नवाब ने पूछा, "वो कौन ?"

इन्शा बोले, "सरकार, अमीर अली साहब, जो लखनऊ छोड़कर जा रहे है।"

सुनते ही नवाब साहब बेतहाशा हँस पड़े और उनका मक़सद समझ गए। फिर ख़ुद ही अमीर अली की तारीफ़ करने लगे। बाद में उन्हें लखनऊ में रोक लिया गया और दो सौ रुपये माहवार उनकी तनख़्वाह बाँध दी गई।

मूसाबाग़

पुराने लखनऊ के बाग़ों में मूसाबाग़ बहुत मशहूर रहा है। नवाब आसफ़ुद्दौला को बाग़ लगवाने का बहुत शौक़ था और अपनी हुकूमत के दौरान उन्होंने बत्तीस बाग़ लगवाए थे। मूसाबाग भी उनके ही ज़माने में वजूद में आया था। अंग्रेज़ इतिहासकारों के अनुसार इस बाग़ का नक़्शा चूँकि मोसियो मार्टिन के द्वारा बनाया गया था इसलिए इसे मोसियाबाग़ या मूसाबाग़ कहा जाने लगा। लेकिन लखनऊ वाले इस बारे में कुछ और ही कहते हैं।

शहर के पुराने लोगों का कहना है कि नवाब आसफ़ुद्दौला कुछ नायबों और मुसाहिबों के साथ घोड़े पर सवार होकर अपने शीशमहल से पश्चिम की तरफ़ गोमती के किनारे घूमने जाया करते थे। एक दिन जब वो गऊघाट से दो मील आगे बारीबखन गाँव से गुज़र रहे थे तो एक बड़ा-सा तन्दुरुस्त चूहा जो खेत से निकला तो अचानक नवाब साहब के घोड़े की टाप से दबकर मर गया। आसफ़ुद्दौला बड़े मोमदिल आदमी थे, इस चूहे के इस तरह मर जाने पर उन्हें बड़ा रंज हुआ। यह देखकर उनके मुसाहिबों ने फ़ौरन हालात को हवा दे दी और बोले, "ग़रीबपरवर, दरअसल ये चूहा कितना ख़ुशनसीब था जो आपके घोड़े 'सिकन्दर' की शाही टापों के नीचे शहीद हो गया है। इसकी इस ग़ैरमामूली मौत का तक़ाज़ा है कि इसका मज़ार बनवाया जाये और उसके लिए एक यादगार बाग़ भी लगवाया जाय। इससे उस ग़रीब की रूह को सुकून मिलेगा और आपके नाम की सोहरत होगी।"

फिर क्या कहना, हुक्मेशाही जारी हुआ और उस मुए मूस की याद में एक

बेहतरीन बाग़ तैयार हुआ जिसे आसपास की जनता मूसाबाग़ कहकर पुकारने लगी।

मोतियों की छड़ी

मशहूर है कि अवध के दूसरे बादशाह नसीरुद्दीन हैदर अपनी ख़ास ख़वास धनियाँ महरी के सिवा और किसी के जगाए नहीं जागते थे। सुबह सवेरे कनीजों की एक पलटन लेकर धनियाँ उनके शबिस्तान में दाख़िल होती थी। उन ख़ादिमाओं के हाथों में रंगीन फूलों के गुलदस्ते, महकदार गजरे, चाँदी के गुलाब-पाश, अगर-लोबान के झँझारे, मोरपंखी, चँवर, रेशमी रूमाल और मीठी आवाज़ों वाले साज हुआ करते थे। इन्हीं नाज़वालों के नाजुक हथियारों से बादशाह की नीदे ग़ज़ब पर हमला होता था और वो सत्तर नखरों के बाद आँख खोलते थे। इस छेड़छाड़ में बादशाह कभी-कभी चन्दन की एक छड़ी से धनियाँ को मारते भी थे।

एक दिन धनियाँ महरी ने बादशाह से कहा, "साहबे आलम, ये सूरत हराम छड़ी आपके सुल्तानी हाथों में ऐसी बेजा मालूम होती है जैसे कमख़ाब के लहँगे पर टाट का पैवन्द। हुजूरे आला, ये छड़ी अगर मोतियों से जड़ी होती तो कुछ आपके हाथों की जीनत बनती।"

बादशाह को यह बात जँच गई और उसी दिन शाही सुनारो को हुक्म हुआ कि चौक के जौहरियों से जवाहरात लेकर कुछ जड़ाऊ छड़ियाँ तैयार की जाएँ। अब क्या था, छड़ियों में सैकड़ों मोती और हज़ारों के लाल टाँके जाने लगे। मज़ा तो ये कि अब्र जो भी छड़ी बादशाह धनियाँ को छुआते वो अपनी होशियारी से उस छड़ी को हथियाकर ही छोड़ती थी और वो सब छड़ियाँ उसकी अमानत बन गईं।

फिर भला क्यों न लखनऊ की वो ख़वास शहर के रईसों की सरग़ना बन जाती जिसके नाम की मस्जिद मौलवीगंज में, इमामबाड़ा गोलागंज में और पुल आलमनगर में बन गये। ब्रिटिश म्यूज़ियम में उन जड़ाऊ छड़ियों में से एक आज भी मौजूद है।

दिल्ली की दुल्हनें

यह बात अठारहवीं शताब्दी के तीसरे पहर की है। अवध के तीसरे नवाब शुजाउद्दौला के बेटे नवाबज़ादा मिर्ज़ा यासीन सआदत अली ख़ां की एक शादी फ़र्रुख़ाबाद के नवाब मुहम्मद ख़ां बंगश की बहन से होने जा रही थी मगर लड़की के बूढ़े बाप नवाब अहमद ख़ां बंगश ने यह शर्त लगा दी कि जब तक अवध ख़ानदान की कोई बेटी मेरे बेटे मुहम्मद ख़ां को नहीं मिलेगी तब तक खान-खाना की लड़की लखनऊ या फ़ैज़ाबाद नहीं जायेगी। इस टेक का नतीजा यह हुआ कि नवाबीने अवध की सारी पीढ़ियाँ गुज़र गईं लेकिन फ़र्रुख़ाबाद और अवध घरानों के बीच समधियाना क़ायम न हो सका। इसके विपरीत, यह कहना ग़लत न होगा कि दरअसल अवध के वलीअहद और शाहज़ादे तो दिल्ली ख़ान-दान की लड़कियों के नाम का ही सेहरा बाँधते रहे। इस रिश्तेदारी का सिल-सिला कुछ ऐसा बँधा कि दिल्ली के डोले उठ-उठकर बराबर अवध के महलों में उतरते रहे। इन शादियों की एक लम्बी क़तार है जिसकी शुरुआत सन् १७४५ में दिल्ली के दारा शिकोह वाले महल से हुई जिस शादी के दूल्हे थे अवध के नवाब शुजाउद्दौला और दुल्हन थीं बहू बेगम साहिबा।

नवाब शुजाउद्दौला की शादी

नवाब सफ़दरजंग के अहद में सल्तनते अवध के वलीअहद मिर्ज़ा जलालुद्दीन हैदर (शुजाउद्दौला) का ब्याह दिल्ली दरबार की तरफ़ से नियुक्त गुजरात के सूबेदार स्वर्गीय मुहम्मद इसहाक़ ख़ाँ की बेटी उम्मत उल ज़हरा के साथ हुआ। दिल्ली के वज़ीर ख़ानदान की यह बेटी बचपन में ही अनाथ हो चुकी थी लेकिन दिल्ली के बादशाह की इस परिवार पर कुछ ऐसी अनुकम्पा बनी रही कि इन लोगों को कभी मुसीबत का मुँह नहीं देखना पड़ा। शाहे दिल्ली ने इस

लड़की को अपनी बेटी बनाकर पाला था और यही वजह थी कि इस शादी में लाखों रुपए सिर्फ़ रंग-रौनक़ और शानो-शौकत के लिए ख़र्च किए गए थे जबकि दान-दहेज का तो कोई किनारा ही नहीं था। बहू बेगम के ही बेशुमार ज़ेवरों से कम्पनी सरकार के सितमतोड़ हरजाने की अदायगी हुई थी। उनके ही ग्यारह सन्दूक़ों मे भरी खिचड़ी (सोने की मुहरों और चाँदी के सिक्कों की मिलावट) को लूटने के लिए वारेन हेस्टिंग्ज़ को तमाम चालें खेलनी पड़ी थीं। यहाँ तक कि बहू बेगम की गुड़ियों के ब्याह का दहेज इस क़दर था कि एक बार उनके बेटे आसफ़ुद्दौला ने उसी से एक साल तक अपनी पूरी फ़ौज की तनख़्वाह बाँटी थी। इसी दुल्हन को ससुराल में 'बहू बेगम साहिबा' का ख़िताब मिला था।

नवाब आसफ़ुद्दौला की शादी

सन् १७६६ में मिर्ज़ा अमानी (आसफ़ुद्दौला) की शादी फ़ैज़ाबाद में उनके पिता के दौरे हुकूमत में हुई। इस वक़्त दूल्हे की उम्र २१ वर्ष की थी। दुल्हन बनी थी शम्सुन्निसा बेगम जो नवाब मरहूम क़मरुद्दीन ख़ां की बेटी थी और तख़्ते सल्तनत दिल्ली के वज़ीर इमामुद्दीन ख़ां उर्फ़ 'इम्तियाज़ुद्दौला' की बहन थी। इस शादी में शिरकत करने के लिए देहली के बादशाह शाहे आलम और शोलापुरी बेगम को भी दिल्ली से फ़ैज़ाबाद आना पड़ा था और ब्याह की धूमधाम पर नवाब शुजाउद्दौला को पूरे चौबीस लाख रुपए ख़र्च करने पड़े थे। शादी के बाद दुल्हन की माँ तो वापस दिल्ली लौट गईं लेकिन उनके भाई लखनऊ में ही बस गए और उन्होंने सपरिवार शीआ धर्म स्वीकार कर लिया।

नवाब सआदत अली ख़ां की शादी

मिर्ज़ा यासीन (सआदत अली) नवाब शुजाउद्दौला के ही बेटे थे लेकिन चूंकि बहू बेगम से पैदा नहीं थे, इसलिए बचपन से लेकर जवानी तक वो अपने हक़ और हिस्से की तलाश में भटकते रहे। शुरू-शुरू में तो फ़ैज़ाबाद में ही रहे फिर उन्हें लखनऊ और बनारस में रहना पड़ा। उनकी पहली शादी अकबराबाद में हुई और दुल्हन बनीं अफ़ज़लमहल। ये दिल्ली वाले सैयद यूसुफ़ अली ख़ां की साहबज़ादी थीं जिन्हें दरबार की ओर से 'मदारुद्दौला' की उपाधि प्राप्त थी। मदारुद्दौला को शाहे देहली जहाँदारशाह की बेटी 'जहाँआरा' ब्याही थी। वैसे यह बात और थी कि अफ़ज़लमहल इनसे न पैदा होकर मस्तूरा बेगम की औलाद थीं। दिल्ली का यह परिवार तितर-बितर होकर हैदराबाद, अरकाट, राजस्थान और लखनऊ में तक़सीम हो गया था। अफ़ज़लमहल पहली और प्रतिष्ठित बीवी होने के कारण नवाब सआदत अली ख़ां की 'ख़ासमहल' कही जाती थीं। अफ़ज़लमहल तथा उनकी सन्तानों की मृत्यु बहुत जल्दी हो गई और इससे उनका नामो-निशान

भी बाक़ी न रहा। उनके बाद नवाब की दूसरी पत्नी ख़ुर्शीदज़ादी बेगम को ख़ासमहल कहा जाने लगा।

बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की शादी

जिन दिनों नवाब सआदत अली ख़ां बनारस में रह रहे थे, दिल्ली के मुग़ल वंश के नवाब मदारुद्दौला के बेटे बशीरुद्दौला भी अपने परिवार के साथ बनारस पहुँचे। ये लोग शीआ धर्म स्वीकार कर लेने के बाद अपने को सैयद रिज़वी घराने से जोड़ते थे। बशीरुद्दौला अपनी जागीर और दौलत से तो महरूम हो ही चुके थे, उन्हें ज्योतिष विद्या से भी बेपनाह लगाव था, इसलिए उन्हें लोग मुबश्शिर ख़ां नजूमी के नाम से जानते थे। इन्हीं बशीरुद्दौला मुनज़्ज़मुलमुल्क की बेटी पादशा बेगम नवाब सआदत अली ख़ां के साहबजादे मिर्ज़ा रफ़ुद्दौला (ग़ाज़ीउद्दीन हैदर) को ब्याही गई थी। ससुराल में उसे 'बादशाह बेगम' कहकर पुकारा गया। बादशाह बेगम को ही बाद में मलिकए अवध अव्वल का मरतबा भी हासिल हुआ। वे ज्योतिष-शास्त्र की विदुषी, राजनीति में अत्यन्त कुशल और बड़ी दिलेर महिला थीं। जिन्होंने अवध के इतिहास में अपनी एक अलग मिसाल क़ायम की।

बादशाह नसीरुद्दीन हैदर की शादी

बादशाह शाह आलम के दोनों बेटे मिर्ज़ा जहाँदारशाह और शाहजादा सुलेमां शिकोह दोनों ही दिल्ली छोड़कर बारी-बारी से लखनऊ आए थे। मिर्ज़ा सुलेमां शिकोह नवाब आसफ़ुद्दौला के अहद से शहर लखनऊ में आबाद थे और अवध का शाही ख़ज़ाना उनके परिवार का पूरा ख़र्च बाक़ायदा बरदाश्त करता रहा। सन् १८१९ में जब नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर को बादशाहत मिली तो जश्ने ताजपोशी में शाहे अवध और शाहज़ादा देहली के बीच कुछ दिलशिकनी हो गई। लखनऊ और दिल्ली की इस आपसी अनबन का नतीजा यह हुआ कि सुलेमां शिकोह साहब छतर मंज़िल का पड़ोस छोड़कर अपनी पुरानी महलसरा में लौट गये। ऐसी हालत में इस बदगुमानी को नया मोड़ देने की ग़रज़ से शाहे अवध अव्वल ने अपने वज़ीरे आज़म नवाब आग़ामीर को शाहज़ादा सुलेमां शिकोह की ड्योढ़ी पर भेजा और अपने वलीअहद मिर्ज़ा सुलेमांजाह (नसीरुद्दीन हैदर) के लिए उनकी बेटी का हाथ माँगा। उधर दिल्ली वाले अवध के बादशाह से कुछ इस क़दर नाराज़ बैठे थे कि पैग़ाम क़बूल नहीं किया और इस शादी से साफ़ इनकार कर दिया। शाहे अवध भला कब अपनी ये तौहीन बरदाश्त करते! उन्होंने भी तनख़्वाहें बन्द कर दीं जिससे उस ख़ानदान को बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। ये शाही नस्ल के लोग थे, इसलिए कोई भी पेशा अख़्तियार

करना उनकी शान के सरासर ख़िलाफ़ था। उनके पास कुछ जमा पूँजी भी नहीं थी जो कुछ पाया था उसे खाया और ख़ूब उड़ाया। बहरहाल इसी कशमकश में भुने चने चबाने की नौबत भी आ पहुँची। गर्दिश के ये दिन देखकर उनकी बेगम नवाब नवाजिश मेहर ने उन्हें समझाया कि मियाँ बेज़र का इन्सान बेपर का परिन्दा होता है, इसलिए अब ख़ैरियत इसी में है कि हम लोग इस शादी के लिए रज़ामन्द हो जायें।

इस तरह नवाब नसीरुद्दीन हैदर की पहली शादी मिर्ज़ा सुलेमां शिकोह की बेटी सुल्ताना बेगम से हुई। घर वाले इन्हें प्यार से बुआ सुल्ताना भी कहा करते थे। जब सुलेमां शिकोह की बेटी दौलत सराए सुल्तानी में पहुँची तो उसे 'नवाब सुल्तान बहू साहिबा' का ख़िताब मिला। मगर अफ़सोस कि दिल्ली के बादशाह शाह आलम की इस पोती से नवाब नसीरुद्दीन हैदर ने सिर्फ़ तीन दिन का वास्ता रखा। जब सन् १८३७ में शाहजादा नसीरुद्दीन हैदर का जश्ने जुलूस हुआ तो दस्तूर और हक़ के अनुसार सुल्तान बहू 'मलिकए आलम सुल्ताने अवध' के ओहदे से सरफ़राज हुई। इस तरह उस नसीबों की मारी बेगम का रुतबा तो बढ़ गया लेकिन वो ग़रीब हुस्नबाग़ की हरमसरा में बैठकर तमाम उम्र अपने शौहर का मुँह देखने को तरसती रही। क्योंकि बादशाह के दिल पर हुकूमत करने वाली आवारा और बदज़ात औरतों की पूरी फ़ौज थी जिनसे उन्हे कभी फ़ुरसत ही न मिली। उधर सुल्तान बहू के ख़ून और ख़ानदान की ये शान थी कि उन्होने मरते दम तक अपने आँचल पर कोई दाग़ नहीं लगने दिया और इज़्ज़त के साथ कर्बला शरीफ़ में जन्नतनशीन हुई।

मुहम्मद अली शाह की शादी

बैरम ख़ां के बेटे अब्दुर्रहीम ख़ानख़ानां के ख़ानदान में ही दिल्ली के बादशाह हज़रत मुहम्मद शाह के वज़ीरे आज़म क़मरुद्दीन ख़ां उर्फ़ इन्तिज़ामद्दौला हुए हैं। उनके पोते नवाब इमामुद्दीन ख़ां की बेटी भी अवध के नवाब मुहम्मद अली शाह को ब्याही थी।

नवाब आसफ़ुद्दौला की बेगम शम्सुन्निसा की भतीजी जहांआरा की शादी मिर्ज़ा नसीरुद्दौला (मुहम्मद अली शाह) के साथ हुई। इस तरह नवाब आसफ़ुद्दौला इनके फूफा तो थे ही, चचिया ससुर भी थे। ८ जुलाई, १८३७ को जब नवाब नसीरुद्दौला मुहम्मदअली शाह के नाम से तख़्तनशीन हुए तो बेगम को 'नवाब मलिका आफ़ाक़ मख़दरए अज़ीम मुमताज उल ज़मानी नवाब जहांआरा बेगम' नाम से सम्बोधित किया गया। इसमें सन्देह नही कि मलिका आफ़ाक़ बड़ी धार्मिक तथा उदार प्रकृति वाली बेगम थीं जिनकी पाकीज़गी के क़सीदे आज तक पढ़े जाते हैं।

नवाब अह्‌मद अली शाह् की शादी

दिल्ली दरबार के नवाब इमामुद्दीन ख़ां के बेटे और मलिका आफ़ाक़ के छोटे भाई फ़ौजशाही अवध के रिसालदार नवाब कालपी, हुसैनुद्दीन ख़ां की साहिब-ज़ादी ताजआरा बेगम जनाब सुरैयाजाह (अमजद अली ख़ां की पौत्रवधू होने के साथ-साथ उनकी नवासी भी थीं, क्योंकि बेगम के पिता नवाब हुसैनुद्दीन ख़ां को सआदत अली ख़ां की बेटी विलायती बेगम ब्याही थी जो इनकी माँ थीं। ताज-आरा बेगम को ससुराल में 'ख़ातून मुअज़्ज़मा बादशाह बहू नवाब मलिका किश्वर साहिबा' का नाम मिला था अपने बेटे वाजिद अली शाह के अहद में उनको जनाबे आलिया (राजमाता) का सम्मानित पद प्राप्त हुआ था। इसी बेहद परदा-पाबन्द बेगम को अपनी ज़िन्दगी के अन्तिम दिनों में विलायत तक जाना पड़ा और पेरिस में उन्हें मौत को गले लगाना पड़ा।

नवाब वाजिद अली शाह् की शादी

बादशाह नसीरुद्दीन हैदर का ज़माना था और वाजिद अली शाह की उम्र का सोलहवाँ साल चल रहा था। उनकी शादी के लिए तमाम रिश्ते आने लगे थे लेकिन बात टूटती जाती थी। अचानक जानी ख़ानम नाम की मशहूर मश्शाता (संदेशवाहिका) एक नया पैग़ाम लेकर मलिका किश्वर साहिबा के हुज़ूर में हाज़िर हुई। दिल्ली के मुग़ल परिवार के नवाब मदारुद्दौला के पोते सैयद नवाब अली ख़ां की बेटी आलमआरा का ये रिश्ता जाने आलम की माँ ने क़बूल कर लिया। बात तय होते ही दूल्हा-दुल्हन को माँझे बिठा दिया लेकिन न जाने किस घड़ी में लगन लगी थी कि उधर दुल्हन की चची ख़ुल्दमकानी हो गयी और इधर दूल्हे के चचा जन्नत सिधार गये। यहाँ तक कि माँझे के कपड़े तक मैले हो गये मगर अब होता भी क्या ! ख़ैर किसी सूरत ब्याह की साअत भी निकली और फ़रवरी, १८३७ में बड़ी धूमधाम के साथ ये निकाह अदा हुआ। ससुराल में आलमआरा को 'आज़म बहू' कहकर पुकारा जाता था। तवारीख़े अवध में ये बेगम जाने आलम की ख़ासमहल के नाम से भी मशहूर हैं।

जाने आलम की दूसरी शादी

नवाब सैयद अली नक़ी ख़ां हुज़ूरे आलम, जो दिल्ली ख़ानदान के मदारु-द्दौला वंश से थे, जाने आलम वाजिद अली शाह के ख़ास वज़ीर हुए। उनकी बीवी गौहरआरा बेगम से जो बेटी रौनक़आरा बेगम थी उसकी शादी शाहे अवध से कर देने का उन्होंने निश्चय किया। दरबार में उनका सिक्का जम जाए, इसलिए उन्होंने अपनी सिर्फ़ ११ बरस की बेटी २१ साल के दूल्हे वाजिद अली

शाह को व्याह दी। ये लड़की ख़ासमहल आलमआरा बेगम की चचाज़ाद बहन भी थी। खासमहल अपने बादशाह शौहर से इस बात पर भी नाराज़ रहती थी कि वो हर महीने दूल्हा वना करते थे। बहरहाल सास-बहू मे कुछ ऐसी मत्रणा हुई कि आजम बहू और उनकी सास मलिका किश्वर साहिबा ने इस शादी में शिरकत ही नही की। दूसरी ओर बेगमों और ख़वासों ने मिलकर इस शादी का काम और इन्तजाम किसी तरह सँभाला।

वादशाह सेहरा बाँधकर तहसीनगंज मे अपने ससुर की 'हवेली अगूरी बाग' पर तशरीफ़ लाए। निकाह की रस्म के लिए २५ लाख का मेहर क़रार हुआ और फिर शादी के बाद ५ बजे शाम बारात दुल्हन लेकर वापस हुई। तब से ही लखनऊ की मुस्लिम शादियों मे ये दस्तूर हुआ कि बारातें शाम को लौटने लगीं वरना पहले दोपहर में ही लौट जाया करती थीं। ये नई दुल्हन जब दौलतक़दा सुल्तानी मे आई तो सुल्ताने आलम ने उस पर अपना तख़ल्लुस 'अख्तर' निछावर कर दिया और उसे 'मलिकए अवध नवाब अख़्तर महल साहिवा' कहकर पुकारा।

नौशेरवांक़द्र की शादी

खासमहल से नवाब वाजिद अली शाह के चार वेटे और एक बेटी हुई। इन पाँच औलादों मे सबसे बडे 'ख़ुसरो मरतबत दारा शौकत नौशेरवाक़द्र मिर्जा हैदरअली' थे जो बदक़िस्मती से गूँगे और बहरे थे इसलिए कभी वलीअहद न हो सके। उनकी शादी २८ फरवरी, १८५१ को दूल्हे की माँ आलमआरा बेगम की ही एक चचेरी बहन बिल्कीसजहाँ से हुई। बिल्कीसजहाँ नवाब अकरमुद्दौला मकरमुलमुल्क हुसैन मिर्जा ख़ां करामतजंग की बेटी थी। दूल्हे की सनकदिमाग़ी के कारण इस शादी में एक हगामा हो गया था। हुआ यूँ कि शादी में आरसी मसहफ़ (दर्पण में प्रथम दर्शन) की रस्म के लिए चन्दन चौकी पर एक सोने की चौखटवाला आईना बिछा दिया गया। फिर दूल्हा-दुल्हन को आँखे बन्द करके दो तरफ़ से सिर झुकाकर बिठा दिया गया और उनके ऊपर से जरदोजी का गुलाबी दुपट्टा तानकर सालियाँ खड़ी हो गई। अभी दीदारे अव्वल के लिए आँख ठीक तरह से खोली भी नही गई थी कि एक चीख़ ने हवेली को हिला दिया और दुल्हन बेगम बेहोश हो गई। मालूम हुआ कि नौशे साहब ने किसी झोंक मे आकर उस की नथ बड़ी वेदर्दी से खीच ली थी। ख़ुदा-ख़ुदा करके क़यामत टली तो बारात घर को चली। ससुराल मे इस दुल्हन को 'शहरयार बहू' कहा जाता था जो सिर्फ़ सात साल सुहागिन रही क्योंकि गद्र के जमाने मे नौशेरवाक़द्र क़ैसरबाग़ में किसी अंग्रेज़ की गोली खाकर शहीद हो गये थे।

मिर्ज़ा फ़रीदूंक़द्र की शादी

मिर्ज़ा फ़रीदूंक़द्र नवाब वाजिद अली शाह के ही बेटे थे। उनकी माँ का नाम नवाब माशूक़महल साहिबा था। कुछ सौतिया डाह के कारण और कुछ आपसी लाग-डाँट की वजह से माशूक़महल ने अपने बेटे फ़रीदूंक़द्र की शादी में पानी की तरह पैसा बहाया था। इस शादी के जश्न और धूमधाम में वो ख़ासमहल से सात हाथ आगे निकल गई थीं। यह शादी २१ अक्तूबर, १८५१ को हुई थी। इस शादी का सारा इंतजाम शरफ़ुद्दौला ग़ुलाम रज़ा ख़ां ने सँभाला था। तीन दिन तक क़ैसरबाग़ के कुल महलों पर रोशनी की गई। २२ अक्तूबर को जब वाजिद अली शाह ने फ़रहतबख़्श में दावते वलीमा (बहू-भोज) दिया तो उसमें शिरकत करने के लिए ब्रिटिश रेज़ीडेंट महोदय भी तशरीफ़ लाए थे।

मिर्ज़ा फ़रीदूंक़द्र को वज़ीरेशाही सैयद अली नक़ी ख़ां की छोटी बेटी नवाब अज़मतआरा बेगम ब्याही गई। इधर यह बन्ना अपने बाप का चौथा बेटा था तो उधर बन्नी भी अपने बाप की चौथी बेटी थी। मज़ा तो यह कि इसी लड़की की बड़ी बहन रौनक़आरा बेगम (अख़्तरमहल) नौशे के बाप को पहले ही ब्याही जा चुकी थी और अब ये दोनों बहनें आपस में सास-बहू बन कर महल मे रहती थीं। इस बहू को ससुराल में 'फ़ग्घूर बहू' कहा जाता था।

मिर्ज़ा बिरजीसक़द्र की शादी

ग़दर के बाद मार्च, १८५८ में बेगम हज़रतमहल ने लखनऊ छोड़ दिया था। जिस ज़माने में बेगम हज़रतमहल अपने बेटे बिरजीसक़द्र के साथ नेपाल नरेश की शरण में रह रही थीं उन्हीं दिनों बिरजीसक़द्र की शादी दिल्ली ख़ान-दान के शाहज़ादे मिर्ज़ा दाऊद बेग की बेटी मुख़्तार उल निसा से सन् १८६६ में हुई थी। इस बहू को ससुराल में 'महताबआरा' का ख़िताब मिला।

दिल्ली और लखनऊ के बीच जो शाश्वत सम्बन्ध क़ायम हुए वो आज तक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में चले आ रहे हैं—इस बात से शायद इनकार नही किया जा सकता, क्योंकि दिल्ली से दुल्हन लाने की मुराद लोगों के दिलों में अब भी उसी रफ़्तार से बाक़ी है।

अवध की ऐतिहासिक तवायफ़ें

ससार के प्राचीनतम इतिहास से वेश्याओं का इतिहास शुरू होता है। वैसे वेश्याओं के भी तमाम तबके और घराने हुआ करते हैं लेकिन लखनऊ के नवाबी दौर में कुछ रूपाजीवाओं या गाने-नाचनेवालियों ने अवध के इतिहास को नए-नए मोड़ दे दिये हैं, तो कुछ ने नए अन्दाजों को जनम दिया है।

नवाब आसफ़ुद्दौला के दौलतख़ाना शीशमहल मे सुन्दरी नाम की एक मशहूर गाने वाली थी। उनकी जश्नगाह की महफ़िलें सुन्दरी के दम से आबाद रहा करती थी। ख़याल गाने में उसका कोई जोड़ न था और इसलिए उसे शाही ख़जाने से अच्छी तनख़्वाह मिला करती थी। ईद और वसन्त के मौके पर सुन्दरी को महल से ख़ूब इनाम-इकराम भी मिलता था। नवाब आसफ़ुद्दौला गिलौरीदान में अपना फरमाइशी परचा लिख-लिखकर भेजते थे जिसे सुन्दरी अदा करती थी। जब नवाब की मृत्यु हो गई तो वो क़स्बन एक कहानीकार के प्रेम-पाश में पड गई थी। इससे उसकी दरबारी प्रतिष्ठा को बहुत चोट पहुँची। अब नवाब सआदत अली खां की हुकूमत थी। अपनी बीमारी के बाद जब वो अपने नए निवास फ़रहनबख़्श में तन्दुरुस्त हुए तो गुस्ले सेहत की दावत में सुन्दरी को मुजरे के लिए बुलवाया गया। सुन्दरी ने रात चढते-चढ़ते अपनी आवाज़ का जादू आवाज मे बिखेर दिया और सारी अंजुमन उसकी गिरफ़्त में आ गई। नवाब सुन्दरी को बहुत पसन्द करते थे लेकिन उन्हे अपने बडे भाई का अदब इतना था कि वो उनकी पसन्दीदा इस गुलूकारा की तरफ़ कभी ग़ौर से देखते तक न थे और नज़र की अशर्फ़ियाँ ख़ासदान में रखकर बढ़ा दिया करते थे।

सआदत अली ख़ां में कोई दोष न था सिवा इसके कि अंगूरी (शराब) पिया करते थे और इस इकलौते शौक़ में अक्सर नौबत पहुँच जाया करती थी। नवाब साहब की दरबारी तवायफ़ का नाम उजागर था। एक बार राजा टिकैत रांय के

निसात बाग़ की बारादरी में वह उजागर का मुजरा देख रहे थे, आसमान पर चाँद खिला हुआ था और चाँदनी मे नहाई जूही-चमेली की झाड़ियाँ गमक रही थी। नवाब अँगूरी के ख़ुमार में थे। ग़ज़ब यह किया कि नाचने वाली वारांगना से उन्होंने सामने की तरफ़ इशारा करके कह दिया कि जाकर उन बड़े मियाँ की गोद में बैठ जाओ। वो मियाँ शहर के एक बुज़ुर्ग सैयद ख़्वाजा हुसैन चिश्ती के नाम से मशहूर थे। महफ़िल की ज़ीनत जब दोनों पाजेबें उनकी तरफ़ बढ़ीं तो मियाँ ने हाथ के इशारों से उस गणिका को वहीं रोक दिया। मगर थोड़ी देर बाद नवाब को फिर वही मख़ौल सूझी। तीसरी बार जब उसे मजबूर किया तो वह बेचारी बड़े मियाँ के पहलू तक पहुँच ही गयी। बड़े मियाँ आपे से बाहर हो गये। उसे धकेल कर उठ खड़े हुए और गरम आवाज़ में कहा, "ख़बरदार, यह गोद मालज़ादियों के बैठने के लिए नहीं है, इसमें शहज़ादियों और वज़ीरजादियों ने बैठकर मुझसे तालीम पाई है।" फिर नवाब की तरफ़ मुख़ातिब हुए, "शुजा-उद्दौला के बेटे, तेरी ये मजाल! तेरे बाप और भाई का ख़याल करके मैंने तुझे छोड़ दिया वरना आज जाने क्या होता। शायद शराब ने तेरी तहज़ीब से सौदा कर लिया है...।" और बारादरी से निकल गये। इस तू-तू मैं-मैं में मेंहदीगंज के उस बाग़ की महफ़िल उजड़ गयी और होश आने पर नवाब बेहद शर्मिन्दा हुए।

अवध के बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के वक़्त में उरई लाल का एक पुराना ख़ानदान था। जगन्नाथ नाम के एक प्रसिद्ध व्यापारी उसी घराने से थे जो चौक में रहा करते थे। जगन्नाथ शहर की एक मशहूर मंगलामुखी बेगम के आशिक़ थे और बेगम बादशाह की काफ़ी मुँहलगी थी। यह बात भी ग़ौर करने की है कि बेगम नाम प्राचीन भारत की गणिकाओं के प्रमुख नामों में से है।

एक बार जब जगन्नाथ किसी जुर्म की सज़ा में गिरफ़्तार कर लिये गये तो बेगमजान के दिल को बड़ी ठेस पहुँची। उनको क़ैद से रिहाई दिलाने के लिए उसने एक तरकीब ढूंढ़ निकाली। उसने जेल के अन्दर ही जगन्नाथ के साथ अपना निकाह पढ़वा लिया और फिर दरबार में अपनी रसाई के ज़ोर से जगन्नाथ को छुड़ा लिया। जगन्नाथ अब ग़ुलाम रज़ा ख़ां हो चुके थे और उनके अँगरखे के बन्द, जो दाईं तरफ़ लगते थे, बाईं तरफ़ लगने लगे थे। उस तवायफ़ से राह-रस्म बढ़ा लेने के कारण उन्हें दरबारे शाही से विजारत मिल गयी और शरफ़ुद्दौला का ख़िताब भी मिला। फिर बेगम को भी शरफ़ुन्निसा कहा जाने लगा। लखनऊ का प्रसिद्ध रौज़ा काज़मैन इन्हीं दोनों का बनवाया हुआ है और दोनों ही उसमें दफ़्न हैं।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के वजीर आग़ामीर ने भी अपनी क़ूरबख़्श कोठी में महबूबन तवायफ़ को अपने घर में पनाह दी थी। उसकी लड़की बीबाजान के पीछे मुहम्मद ईसा ख़ां नाम का बरेली का एक बाँका दीवाना हो गया था। इसी तरह

नसीरुद्दीन हैदर के वज़ीर रौशनुद्दौला के घर में सुन्दर नाम की एक क़स्बन बादशाह और वज़ीर की ख़िदमत में मुजरा करती थी।

नसीरुद्दीन अहमद की तवाफ़ बेगमें

बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के शासन काल से ही शाहज़ादा मिर्ज़ा सुलेमां जाह उर्फ़ नसीरुद्दीन हैदर के बिगड़े दिल के परपुर्ज़े हमेशा कुछ फ़ाहिशा औरतों के हाथों ठीक होते रहे और नतीजा ये हुआ कि उनका बेड़ा उन्हीं हाथों ग़र्क़ हुआ। उस ज़माने में लखनऊ के क़रीब हसनपुर बन्धवा से आई हुई एक नामी-गिरामी डोमनी शहर में दोनों हाथों से दौलत समेट रही थी। उसके साथ उसकी बेटी हुसैनी अपने रूप का जादू जगा रही थी। इस चढ़ते चाँद का ये आलम था कि तमाम शहर उसकी चाँदनी में सराबोर हो चला था। बड़े-बड़े रसिक-रईसों की ड्योढ़ियों पर शादी-बारातों के मौक़े पर हुसैनी के मुजरों की महफ़िलें हुआ करती थीं। जब गुलमेंहदिया झाड़ों में झिलमिलाती तमाम शमाओं के साये में ये सरापा शमा अँगड़ाई लेकर नाचने खड़ी होती तो उसका नूर पाने वाले परवानों का मजमा लग जाता। उन्हीं जांनिसारों के बीच नसीरुद्दीन भी उस कमंद में आ गया। इसके बाद हुसैनी के हुश्न का दामन नज़रबाज़ों की गिरफ़्त से छूट गया और वह महफ़िल की शमा शाही हरम का चराग़ बन गई। चूँकि हुसैनी नाम के साथ शहर के तमाम मनचलों की बदनीयती जुड़ी थी इसलिए नसीरुद्दीन हैदर ने उसके बेपनाह हुश्न को देखते हुए उसे एक नया नाम 'ख़ुरशीदमहल' दिया। जब ख़ुरशीद से शादी करने का सवाल हुआ उसकी नस्लो-नसब का पता लगना मुश्किल था। उसकी माँ की मरज़ी के अनुसार ही मिर्ज़ा हुसैन बेग नाम के एक सरकारी नौकर को हुसैनी का बाप कहा जाने लगा। मिर्ज़ा बेग सवारों में नौकर थे मगर अब उस डोमनी के साथ आकर ज़ौहरी मुहल्ले में रहने लगे।

ख़ुरशीदमहल के नाम नवाबगंज (बाराबंकी) की छः लाख रुपये सालाना आमदनी की एक जागीर लिखी जा चुकी थी। ख़ुरशीदमहल की ड्योढ़ी पर तमाम ख़ादिमें-कनीज़ें, दारोग़ा और सिपाही तैनात रहते थे। इस पिंगला की शानो-शौकत का सिलसिला यहीं ख़त्म नहीं हुआ। १८ अक्तूबर, १८२७ में नसीरुद्दीन हैदर शाहे अवध हुए। तख़्तनशीनी ने रातोंरात तमाम बेगमों को मलिका बना दिया था। एक दिन नए-नए ताजदार ने अपनी नई नवेली के प्रेम में विभोर होकर हँसी-हँसी में अपना ताज उसके सर पर रख दिया और उसे ताजमहल कहने लगे। इस महल की ताजपोशी के लिए उसी दम बादशाह ने एक लाख रुपया सालाना की सलवन (रायबरेली) की जागीर उसके दामन में डाल दी। इससे पहले यह रुतबा किसी मलिका को हासिल नहीं हुआ था। इसी ताजमहल के अद्वितीय रूप-सजावट की चर्चा में फैनी पार्कस नाम की एक फ्रांसीसी

पर्यटक महिला ने अपनी डायरी के पन्ने भर दिये है। नसीरुद्दीन हैदर की मौत के बाद ताजमहल की ऐयाशी ने ऐसा जोर पकड़ा कि सारे शहर में बदनाम हो गई। जब उसने अपनी पालकी से पैर निकाल दिया तो नवाब वाजिद अली शाह ने उस विधवा बेगम के महल पर पहरे बिठाल दिये लेकिन उसके रंग-ढंग पर कभी क़ाबू नहीं पाया जा सका।

इसी तरह बादशाह नसीरुद्दीन ने अपनी एक दरबारी तवायफ़ हुसैनी को भी महलसरा में दाख़िल कर दिया था। हुसैनी जात की डोमनी थी, और दौलतगज चौक की रहने वाली थी। वैसे ये हुसैनी मामूली शकल-सूरत की लड़की थी लेकिन उसके नाच-गाने के हुनर और नाज़ो-अन्दाज़ ने बादशाह पर भरपूर जादू डाल रखा था।

१० दिसम्बर, १८३१ को नसीरुद्दीन हैदर ने चुपचाप उस डोमनी से शादी कर ली। अब क्योंकि हुसैनी को उस नाम से पुकार लेना हराम हो चुका था, अत: हुसैनी बादशाहमहल बन चुकी थी। उसकी महफ़िल के दीवाने उसकी एक झलक देख पाने के लिए तरसने लगे थे। यह शादी चोरी से की गयी थी। इसलिए इस बेगम के नाम कोई जागीर नहीं लिखी जा सकी। और इसमें क्या शक है कि बेगम बेजागीर और नवाब बेमुल्क दो कौड़ी के माने जाते है।

नसीरुद्दीन की रँगरेलियों का कोई अंत नहीं था। उनकी इन्हीं कमजोरियों के लिए अंग्रेज़ों ने उनके नाम पर दाग़ लगाये है। फ़ैनी पार्कस ने बादशाहमहल के लिए लिखा है, "पता नहीं क्यों ये एकदम मामूली लड़की बादशाह के दिलो-दिमाग़ पर छायी हुई है। लगभग १४ महीने पहले यही तवायफ़ रेजीडेंसी में २५ रुपये रोज़ पर मुजरा करती थी। दरअसल यह ऐसे नीच तबक़े की औरत थी कि शायद कोई कोचवान भी उससे शादी न करता।

नसीरुद्दीन हैदर तो उन दिनों हर घड़ी बादशाहमहल पर निछावर रहते थे और यहाँ तक कि ताजमहल जैसी क़बूल सूरत मलिका की भी क़द्र कम कर बैठे थे। इस बदमाश लड़की का महल में पाँव पड़ जाने से ही ताजमहल का सूरज बुझने लगा था और ताजमहल उस रंजोग़म को ग़लत करने मे मयनोशी का सहारा लेने लगी थी। ये वो ज़माना था जब बादशाह का बायाँ हाथ ताजमहल के हाथों में रहता था और दायाँ हाथ बादशाहमहल की मुट्ठियों में क़ैद हो गया था। बादशाह सलामत जब कम्पनी सरकार के गवर्नर-जनरल के स्वागत में कानपुर गये तो ताजमहल और बादशाहमहल उनके साथ-साथ सिद्धि बनकर कानपुर तक गयी थीं।

बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के हरम में सिर्फ़ ताजमहल और बादशाहमहल ही हुसैनी नाम से नहीं आई थीं। इनके अलावा तीन हुसैनी नाम की नाचने वालियाँ और आईं जो बाद में बेगमें बन गईं। उन्हें साहबमहल, नूरमहल और

सुल्तानमहल के नाम से पुकारा जाता था। नसीरुद्दीन की कामुकता और विलासिता का अन्दाज़ इसी बात से लगाया जा सकता है कि उनके दिल बहलाव के लिए सौ तवायफ़ें शहराती और सौ तवायफ़ें देहाती महल में नौकर थीं। उनके हूरे हरम के इन्तज़ामकार राजा ग़ालिब जंग थे। और उनके ख़ास दौलत लाला रामप्रसाद उस ऐशख़ाने में परियों के मजमे लगवाते थे। करमबख़्श नाम की एक क़स्बन, जो ऐशमहल कहलाती थी, उस महफ़िले आराइश की दारोग़ा बनी हुई थी।

वाजिद अली शाह के परीख़ाना की तवायफ़ें

नसीरुद्दीन हैदर के बाद वाजिद अली शाह के वक़्त में फिर लखनऊ में तवायफ़ों की तूती बोलने लगी। वो बचपन से ही हुस्नपरस्त थे, इसलिए उनके अहद में इन रक़्क़ासाओं ने वो तमाशे किये कि इतिहास गवाह है कि जो कभी न हुआ था उस ज़माने में हो गुज़रा।

बादशाह नसीरुद्दीन हैदर ने सन् १८३२ में जन्तर-मन्तर जैसी एक वेधशाला लखनऊ में बनवायी थी जिसे 'तारावाली कोठी' कहा जाता था। इस ज्योतिष-गणना भवन में एक से एक क़ीमती यंत्र और अद्भुत दूरबीनें लगी हुई थीं। तारावाली कोठी की देख-रेख के लिए और इन्तज़ाम के लिए कर्नल वैलकावस को नियुक्त किया गया जो अच्छा खगोलविज्ञानी था। मगर जब वाजिद अली शाह की हुकूमत हुई तो यह वेधशाला गर्दिश में आ गयी। वाजिद अली शाह ने इस तारावाली कोठी को मयख़ाना बना लिया। और इस संग्रहालय की सबसे बढ़िया दूरबीन को एक अच्छा खिलौना समझ कर हैदरी नाम की एक मशहूर तवायफ़ को खेलने के लिए दे दिया।

वाजिद अली शाह का परीख़ाना मशहूर है। क़ैसरबाग़ के उस परीख़ाने की दारोग़ा बजमुलनिसा थीं जिनके साथ अठारह अफ़सर परियाँ थीं जिन्हें हुज़ूर-वालियाँ कहा जाता था। अम्मन और अमामन नाम की दो कुटनी औरतें परी-ख़ाने के लिए देश-विदेश से लड़कियाँ उड़ाकर लाती थीं। और तो और, बेगम हज़रतमहल ने भी पहले-पहल इसी परीख़ाने में क़दम रखा था और तब वो महकपरी कही जाती थी।

परीख़ाने पर रात-दिन हथियारबन्द तुर्किनों का पहरा रहता था। परीख़ाने में बादशाह और परियों के अलावा सिर्फ़ साज़िन्दे आते-जाते थे। कुछ उस्ताद परियों को नाचने-गाने की तालीम देते थे। सब उस्तादों के उस्ताद तो बादशाह ख़ुद थे, जो ख़ुद सितार और तबला बजाते थे। ठुमरी गाने में तो उनका जवाब ही नहीं था।

वाजिद अली शाह के पिता अमजद अली शाह की एक कनीज़, जो अच्छी

गाने वाली थी, साहब ख़ानम कही जाती थी मगर जाने आलम की महबूबा थी। वो बादशाह के साथ नाचती-गाती तो थी ही, अक्सर गंजीफ़ा भी खेलती थी। वाजिद अली शाह उसी के हाथ की गिलौरियाँ खाते थे और बिना उसका मुँह देखे सोते नहीं थे। उन्होंने अपनी रचना 'परीख़ाना' में स्वयं लिखा है—

"लगाकर कभी पान लाती थी वह।
मुहब्बत का बीड़ा उठाती थी वह॥"

वाजिद अली शाह को परी जमालो की सोहबत बहुत पसन्द थी और यहाँ तक कि उन्होंने कुछ फ़ाहिशा औरतें महज़ मुहब्बत करने के लिए तनख़्वाह पर नौकर रख ली थीं। उन्हीं औरतों में मोती ख़ानम भी आई थी। मोती ख़ानम नाचने-गाने में बड़ी पारंगत थी। स्वभाव की बड़ी चतुर-चालाक और शोख़ मिजाज औरत थी। वाजिद अली शाह उसके चम्पई रंग और कंटीले नैनों पर क़ुर्बान थे। उस रक़्क़ासा की बायीं आँख पर एक तिल भी था जिसे जाने आलम अपना दिल कहा करते थे। मज़ा यह कि यही पेशेवर मुहब्बतफ़रोश औरत इससे पहले बादशाह नसीरुद्दीन हैदर की दरबारी जलसेवालियों में मुलाज़िम थी मगर अब तो वाजिद अली शाह उस नाचीज़ पर दिलोजान से निछावर थे। इसी मोती-ख़ानम के इश्क़ में दीवाने होकर उन्होंने दो दीवान रच डाले और तीन मसनवी नज़्में कह डालीं।

उसी जमाने में लखनऊ शहर में जहानी नाम की एक मशहूर डोमनी रहा करती थी। उसकी बेटी गुलबदन अच्छी शक्लोसूरत की तो थी ही, गाने-बजाने की कला भी उसे अपनी माँ से विरासत में मिली थी। जब इस फूल की ख़ुशबू क़ैसरबाग़ के रँगीले कुँवर तक पहुँची तो उनके हरकारे मुहम्मद अली ख़ां ख़्वाजासरा दयानतुद्दौला ने एक दिन इस माहपारा को हुज़ूर के आँगन में लाकर खड़ा कर दिया। शाहे अवध के दिल पर उसकी मोहिनी ऐसी पड़ी कि उस दिल-कश सूरत को फ़ौरन अंगीकार कर 'परीख़ाना' में उस नाज़ुक अदा फूल को 'माशूक़ परी' का नाम दिया गया। और उसे नाच-गाने की तालीम दी जाने लगी। वह गाना-बजाना सीख ही रही थी कि सुल्ताने आलम ने उससे रिश्ता कर लिया। उसके गर्भवती माँ बनने का शकुन देखते ही उसे महल के परदों में बिठा दिया गया और परी के पर उतारकर महल का ख़िताब लगा दिया गया। अब उसे माशूक़महल कहा जाने लगा। जब उस चाँद की गोद में तारा खिला तो हाकिमे तख़्त बादशाह अमजद अली शाह ने अपने पोते को मिर्ज़ा फ़रीदूंक़द्र बहादुर नाम दिया और बहू के नाम कुछ जागीर लिखवाकर 'नवाब माशूक़महल साहिबा' कहा।

माशूक़महल बादशाह की सबसे वफ़ादार बेगमों में थीं। मार्च १८५६ में जब

नवाब वाजिद अली शाह् लखनऊ छोड़कर कलकत्ते की तरफ़ रवाना हुए तो बादशाह् की गाड़ी के पीछे जो पहली टमटम थी वो माशूक़महल की थी । जाने आलम को जब कलकत्ते में क़ैद करके फ़ोर्ट विलियम में डाल दिया गया तो उन्होंने अपनी दिलरुबा बेगमों से जुदा हो जाने पर हरएक से कुछ न कुछ निशानी भेजने की तलब की थी—

"तबीयत बहुत मेरी घबराई जब
किया पाए 'क़ैसर' का छल्ला तलब
करे नाख़ुने दस्ते 'माशूक़' से
तलब ये किया दिल के सन्दूक़ से
कहा, 'जाफ़री' से किए ख़ुशजमाल
मुझे चाहिए तेरे मुँह का उगाल···"

(हुज़्ने अख़्तर)

माशूक़महल उनकी इस वहशत और नासमझी पर दिल ही दिल में जल-भुनकर रह गयी। वैसे वो रोज़ दोनों वक़्त अपने घर से नवाब के लिए खाना और मुश्कीं गिलौरियाँ भेजती थी लेकिन उन्होने नाख़ून काटकर भेजना नहीं पसन्द किया—

"दिया मल्कए मुल्क ने ये पयाम
कि मेरा है दुनिया में माशूक़ नाम
मँगा उनके नाख़ूं जो करती हों प्यार
वो भेजें जो हों आपकी राज़दार
जो माँगे है नाख़ुन, नहीं है वो अब
ये हज्जाम का काम सीखा है कब ?"

(हुज़्ने अख़्तर)

इसी जवाब से वाजिद अली शाह् माशूक़महल से नाराज़ से रहने लगे । जब इन माँ-बेटी की तनख़्वाहें भी कटने लगीं तो मिर्ज़ा फ़रीदूँक़द्र ने माँ के कहने पर दिल्ली जाकर अंग्रेज़ सरकार से अपने बाप की शिकायत की। बग़ावत के इस क़दम से नवाब का पारा और गरम हो गया और उन्होंने माशूक़महल से अपना रिश्ता तोड़ डाला । यही नहीं, उन्होंने उसकी कोठी 'माशूक मंज़िल' को जड़ से खुदवा डाला और उसकी जगह नयी कोठी बनवाकर उसका नाम 'फ़तह् मंज़िल' रखा। मारे जलन के इस कोठी की बुनियाद में वाजिद अली शाह् ने एक जोड़ी तबला-सारंगी भी रखवा दिये, क्योंकि माशूक़महल जात की डोमनी थी और ये साज़ उसके प्रतीक थे ।

वाजिद अली शाह् की तवायफ़ बेगमों में 'सुलेमांमहल' कभी सुलेमां परी कही जाती थी। नन्ही जान नाम की एक बड़ी अच्छी गुलूकारा को उन्होंने 'अमीरमहल' कहकर अपनी बेगम बना लिया। उम्दाख़ानम वाली उमराव नाम की रक़्क़ासा को उन्होंने 'सिकन्दरमहल' बना लिया जो उनके जोगियाने मेले में उनकी ख़ास जोगन बना करती थी। इसी तरह ग़न्ना नाम की एक क़स्बन को उन्होंने सरफ़राज़महल बना लिया था। रश्कपरी नाम की एक डोमनी को 'नवाब सल्तनतमहल' बनाकर छोडा। दिलबर और हैदरी नाम की दो तवायफ़ बहनों को अपनी बेगम बनाकर उन्होंने 'सुल्तान परी' और 'अजायब परी' का ख़िताब अता फ़रमाया। और तो और, उनके शासनकाल के एक प्रसिद्ध रेज़ी-डेण्ट कर्नल स्लीमन तक मुन्नी नाम की एक तवायफ़ के आशिक़ हो चुके थे।

इन तवायफ़ों के रक़्सो-महफ़िल, हुस्नो-अन्दाज़ के शोले नवाब वाजिद अली शाह के वक़्त में कुछ इस क़दर भड़क चुके थे कि फिर वो चिराग़ ही गुल होकर रह गया।

अवध के ख़्वाजासरा

संसार के सभी देशों में पुंसत्व-विहीन मनुष्य पाये जाते रहे हैं। किस देश में, किस काल में इन लोगों की क्या स्थिति रही यह एक अलग बात है। परन्तु इस कौम को जो शानो-शौकत और मरतबा अवध की नवाबी में हासिल हुआ, वह कहीं और न हो सका।

मुग़ल बादशाहों ने पश्चिमी मुस्लिम देशों से हब्शी ग़ुलाम और ईरानी यूनक बुलवाये थे। ये खोजा दिल्ली-दरबार और शाही हरम के बीच संदेशवाहक का काम किया करते थे।

चौदहवी सदी में बलबन के शासन काल में सुबुक्तगीन अवध का हाकिम था। उसके बाद यह शासन व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गयी। तब सरबर नामक एक खोजा ने दिल्ली की तरफ़ से आकर यह काम सँभाला था। जब मुग़ल सल्तनत का पतन प्रारम्भ हुआ और अवध में नवाब-वज़ीरों का ज़ोर हुआ तब चारों तरफ़ से तमाम खोजे इकट्ठे किये जाने लगे। नवाब अबुल मंसूर खां 'सफ़दरजंग' के वक़्त में उनके चचेरे भाई मुहम्मद अली खां ख़ैराबाद के चकलेदार नियुक्त किये गये। उन्होंने इस इलाक़े के तमाम बच्चों को नपुंसक बनवाया, जो बाद में बड़े होकर दरबारे अवध में नौकर हो गये। उनमें से ही जवाहर अली खां, अंबर अली खां, निशात अली खां इतिहास प्रसिद्ध ख़्वाजासरा हुए हैं। ख़्वाजासरा नवाबों की निगाह में योग्यताओं और गुणों के सुपात्र समझे जाते थे।

नवाब सफ़दरजंग का पुत्र शुजाउद्दौला जब फ़ैज़ाबाद को राजधानी बनाकर सूबेदारी की गद्दी पर बैठा तो वहाँ हिजड़ों की तादाद बहुत बढ गयी। उसकी हुकूमत में ये खोजे, ख़्वाजासरा कहे जाने लगे। उस समय उनके हाथों में अधिकांश महकमे थे। बेगमों के हरम से तो उनका सीधा संबंध था। महलों की पहरेदारी, ड्योढ़ीदारी, दारोग़ाई, बावरचीख़ाने का इन्तज़ाम, मालियों की अफ़सरी, आम-

दनी, वसूली, जागीरों की देखभाल आदि का काम इन्हीं लोगों के ज़िम्मे था। शुजाउद्दौला ने महबूब अली ख़ां नामक एक ख़्वाजासरा को इटावा और कड़ा-इलाहाबाद का हाकिम बनाया था। लताफ़त अली ख़ां नामक एक दूसरे ख़्वाजा-सरा के अधीन एक पूरी फ़ौज थी। बक्सर युद्ध में पराजित होने के बाद ही शुजाउद्दौला ने फ़ौज में ख़्वाजासराओं की भर्ती बन्द कर दी। शुजाउद्दौला का विचार था कि ख़्वाजासरा ख़ुदा के ख़ालिस बंदे होते है जबकि वास्तविकता यह थी कि नवाबों के हरमों में असंख्य स्त्रियों की देखभाल के लिए ही इन ख़्वाजा-सराओं की जरूरत थी।

ख़्वाजासराओं की फ़ौज

नवाब के रिसाले का बड़ा सरदार मुर्तज़ा ख़ां बरीज़ था। उसकी फ़ौज के सिपाहियों को क़वायद कराने के लिए कुछ प्रशिक्षित ख़्वाजासरा थे। अकेले बसंत अली ख़ां ख़्वाजासरा के मातहत सेना के दो डिवीजन थे। जिनमें लाल वर्दी वाले एक हज़ार सिपाही थे। इसी तरह एक अन्य ख़्वाजासरा की कमान में एक हजार तेग़बाज़ सवारों की पलटन थी। अंबर अली ख़ां ख़्वाजासरा के पास पाँच सौ सवार रहते थे। उनके अधीन काली वर्दी वाली एक पलटन भी थी। महबूब अली ख़ां ख़्वाजासरा सवारों को घुड़सवारी की ट्रेनिंग दिया करते थे। इन सबकी बड़ी-बड़ी जागीरें थीं। उनकी बनवायी हुई तमाम शाही इमारतें फ़ैज़ाबाद और लखनऊ में बिखरी पड़ी है।

बहू बेगम शुजाउद्दौला की ख़ास महल और आसफ़ुद्दौला की माँ थी। वह अवध के इतिहास में अपनी शानो-शौकत, आनबान और स्वाभिमान के लिए प्रसिद्ध हैं। बहू बेगम के फ़ैज़ाबाद स्थित महल का ड्योढ़ीदार जवाहर अली ख़ां ख़्वाजासरा था। वह उनके सारे इलाक़े का मुख़्तार भी था। वह ताजियादारी करता था और शान से बैठकर बड़े-बड़े मरसियाख़्वानों से मरसिये सुनता था। फ़ैज़ाबाद उजड़ने के बाद अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह लखनऊ में बस गया था। फ़रहतबख़्श महल में वह आबदारख़ाने का दारोग़ा हो गया था। कहा जाता है कि उसी ने आसफ़ुद्दौला के सौतेले भाई नवाब सआदत ख़ां को उनके साले की साज़िश से अख़नी में ज़हर मिलाकर पिला दिया था।

बड़ी-बड़ी जाहगीरों के मालिक़

लखनऊ के नवाब आसफ़ुद्दौला जब कर्बला शरीफ़ की ज़ियारत करके इराक़ से लौटे तो अल्मास मियाँ, दाराब मियाँ जैसे ख़्वाजासराओं को साथ लेते आये। अल्मास अली ख़ां ख़्वाजासरा अवध की जागीरों की देखभाल करता था और किसी से नहीं दबता था। इलाक़ों से वसूल किये गये धन का आधा भाग वह

तरह-तरह के बहाने बनाकर स्वयं अपने पास रख लेता था। अल्मास अली ख़ां बेहद चतुर था तथा नवाब भी उससे सलाह लिया करते थे। नवाबगंज (लखनऊ) मे अल्मास मियाँ का एक आलीशान इमामबाड़ा और मस्जिद है। इसके अलावा काकोरी रोड पर बना अल्मास बाग़ आज भी उसकी शानो-शौकत की गवाही दे रहा है। काकोरी क़स्बे में भी अल्मास अली ख़ां की बनवाई हुई मस्जिद है।

दाराब अली ख़ां आसफ़ुद्दौला के हरम की देखभाल करता था और लखनऊ में माले ख़ां की सराय मे रहता था। दाराब मियाँ की भी जबरदस्त आमदनी थी। उसका बनवाया हुआ मियाँ दाराब का इमामबाड़ा मौलवीगंज में है। बाद में नवाब अमजद अली शाह की बेगम मलिका अहद का ख़्वाजासरा 'छोटे दाराब' इसमें रहने लगा। उसने इस इमामबाड़े को नया रूप-रग दे दिया।

दौलतमंद और मज़हब के पाबंद

तहसीन अली ख़ाँ लखनऊ का एक मशहूर ख़्वाजासरा हुआ है। वह बड़ा दौलतमन्द और मजहब का बहुत पाबंद था। तहसीन की मस्जिद आज भी चौक (लखनऊ) में अकबरी दरवाज़े के पास आसमान से बातें करती हुई खड़ी है। इसके पीछे तहसीन मियाँ का इमामबाड़ा भी है।

कहा जाता है कि अवध के नवाबों के ख़ास ख़ज़ांची चतुरा सेठ के ख़ानदान का एक बेहद ख़ूबसूरत लड़का भोलानाथ नवाबों की आशनाई का शिकार हो गया। बेगमों के बीच-बचाव करने से वह किसी तरह छूटकर भाग निकला। बाद में इसकी सजा के तौर पर उसे पुंसत्वहीन कर दिया गया। फिर मारे लज्जा के वह मुसलमान हो गया। वह तहसीन अली ख़ां के नाम से मशहूर हुआ। कुछ दिनों पहले तक इस मस्जिद की देखरेख उसी सेठ के घराने की तरफ़ से होती रही। आसफ़ुद्दौला द्वारा फ़ैजाबाद छोड़कर लखनऊ आ बसने के बाद उनकी विधवा माँ बहू बेगम और दादी नवाब बेगम अकेली फ़ैज़ाबाद में रह गयी। कारण नवाब से उनकी पटती नहीं थी। ये दोनों सास-बहू बड़ी तम्कनत के साथ फ़ैज़ाबाद में अपने महलों में रहती थीं। उनकी जागीरों की देखभाल ख़्वाजासरा ही किया करते थे। इनमें बहार अली ख़ाँ बहू बेगम के महल का ख़ास ख़्वाजासरा था। वह उन्नाव ज़िले के मोहान क़स्बे का लड़का था, जिसे बचपन में एक रात कोई गीदड़ उठा ले गया था। गीदड़ ने कुछ इस तरह उसका गोश्त खाया कि किसी तरह बच्चे की जान तो बच गई, मगर अब वह नवाबी हरमों के क़ाबिल ही रह गया था। बड़ा होकर जब वह खोजा बहू बेगम के पास पहुँचा तब उन्होंने उसे टाँडे का हाकिम बना दिया। बहू बेगम ने एक बार बहार अली को अपना प्रतिनिधि बनाकर गवर्नर-जनरल से मुलाक़ात करने को कलकत्ता भेजा था।

वहाँ कम्पनी सरकार ने उसे क़ैद कर लिया, किन्तु बाद में बहू बेगम के संकेत मात्र से ही उसे छोड़ना पड़ा। एक अच्छी उम्र पाने के बाद बहार अली ख़ाँ की घोड़े से गिरने के कारण मृत्यु हो गयी और उसे फ़ैजाबाद में दफ़्न किया गया।

शुजाउद्दौला का ख़ास ख़्वाजसरा जवाहर अली ख़ां अब उसकी माँ नवाब बेगम की ख़िदमत में था। नवाब बेगम की महलसरा में महरूम अली ख़ां नाज़िर, मियाँ शफ़क़त, इत्तिफ़ाक़ अली ख़ां, जावेद अली ख़ां आदि प्रसिद्ध ख़्वाजासराओं का बोलबाला रहता था, उनके दो ख़्वाजासराओं—सुख़नफ़हम और मियाँ दाना का कोई जवाब नहीं था। जिनकी निगरानी में ४०० हथियारबन्द सिपाही चलते थे। जवाहर अली ख़ां और आसफ़ुद्दौला के ख़्वाजासरा हसन रजा ख़ाँ में हमेशा जंग ठनी रहती थी। जिस समय वारेन हेस्टिंग्ज़ के इशारों पर आसफ़ुद्दौला ने अपने अहलकारों और ख़्वाजासराओं को फ़ैजाबाद की बेगम से जब्रन धन-वसूली के लिए भेजा तो उन ख़्वाजासराओं मे ज़बरदस्त जंग छिड़ गयी। बहू बेगम के क़िले पर लगी तोपों के सामने तोपें लगाकर उनके तोड़े सुलगाये जा रहे थे। फ़ैज़ाबाद चौक के त्रिपोलिये पर लखनऊ के प्यादे चढ़ गये। घोड़ों की टापों से सारे शहर में धूल उड़ने लगी।

आसफ़ुद्दौला का यह रुख़ देखकर और ऐसा पैग़ाम सुनकर नवाब बेगम ने अपनी बहू से कहा, "बीबी, अब क्या कहती हो? अगर लखनऊ के नवाबों से लड़ने का इरादा हो तो बिसमिल्लाह कहकर हम दोनों सवार हो जाएँ। मगर डर है कि तुम्हारे बेटे को कुछ नुक़सान न पहुँचे, क्योंकि नवाब मरहूम शुजाउद्दौला के वक़्त के सिपाही और ख़्वाजासरा तुम्हारी औलाद से बेहद नाराज़ बैठे हैं।"

इतना कहना था कि बहू बेगम फ़फ़क कर रोने लगी, "मेरे अल्लाह, ये कैसे कलाम हैं? इस लंबी उम्र में यही एक लड़का खानए-दिल का चिराग़ है। मुझको ये कब मंजूर होगा कि उसको सदमा पहुँचे।"

फलतः ख़्वाजासराओं को हुक्म हुआ कि लड़ाई-तमाशा बन्द किया जाये। जो मुग़ल बच्चे तोपें चला रहे थे, यह हाल सुनकर अपनी तक़दीर को रोने लगे कि काश आज हम किसी मर्द के नौकर होते तो ये हाल न होता।

अवध के प्रथम बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की सदर मलिका बादशाह बेगम 'मरियम मकानी' भी कहलाती थीं। अपने सौतेले बेटे नसीरुद्दीन हैदर की हुकूमत में उन्होंने बड़ी-बडी मुसीबतें उठाईं, यहाँ तक कि उन्हें अपनी जनानी फ़ौज तैयार करनी पड़ी जो 'लहँगा पलटन' के नाम से मशहूर थी।

नसीरुद्दीन हैदर को जब दुश्मनों ने ज़हर देकर ख़त्म कर दिया तो उन्होंने अपने नाबालिग़ पोते मुन्नाजान को गद्दीनशीन करना चाहा। रात का पिछला पहर था जब छोटी छतर मंज़िल में बादशाह नसीरुद्दीन की लाश पड़ी थी और लाल बारादरी में भाँड़ और तवायफ़ें मुजरा कर रही थीं क्योंकि मुन्नाजान

तख़्त पर विराजमान हो चुके थे। ये सारा तमाशा बादशाह बेगम के ख़ास ख़्वाजासरा इमामबख़्श 'सक़्क़ा' के इशारों पर हो रहा था।

जब अवध के रेज़ीडेंट कर्नल जॉन लू ने वज़ीर रौशनुद्दौला के साथ दरबारी महल को घेरकर तोपें चलवा दीं तो अंदर महफ़िल में दहशत छा गई। मगर 'सक़्क़ा' ने लापरवाही से मटककर बेगम को बहला दिया, "जनाब आलिया, फ़िरंगी आपके फरज़ंद को तोपों की सलामी दे रहे हैं।" इसके बाद तख़्तेशाही के लिए तू-तू मैं-मैं मच गई और दोनों दादी-पोते गिरफ़्तार हो गये।

वाजिद अली शाह का ज़माना

एक अरसे बाद जब वाजिद अली शाह का ज़माना आया तो जैसे सोये फ़ितने फिर जाग उठे और सब ऐश-आराइशों, रस्म-रिवाजों की धूम मच गयी जो वक़्त-वक़्त पर तमाम बादशाहों ने अलग-अलग अपनाये थे। इस दौर में ख़्वाजासराओं की लखनऊ में तूती बोलने लगी। शाहे अवध ने तो उनके नाम तक अपने पूर्वज नवाबों के ढंग पर जैसे दयानतुद्दौला, बशीरुद्दौला, गुलबदनुद्दौला, अरसनुद्दौला आदि रख दिये।

मुहम्मद हुसैन अली ख़ां ख़्वाजासरा, वाजिद अली शाह की ख़ासमहल आलमआरा बेगम के महल का दारोग़ा था। दयानतुद्दौला की बनवायी हुई कर्बला नूरबाड़ी में है, जो लखनऊ की देखने योग्य इमारतों में से एक है। बड़े भारी सुनहरे गुंबद वाली यह शानदार सुर्ख़ इमारत हज़रत इमाम हुसैन के रौज़े की हूबहू नक़ल है। इसमें कांच और लकड़ी का ख़ूबसूरत काम बना है और इसकी दीवारों पर बेहतरीन रंगीन बूटे बने हुए हैं। दयानतुद्दौला वाजिद अली शाह के साथ कलकत्ते तक गया था।

जब लखनऊ की जनता ने ग़द्र का उत्पात मचाया तो एहतियात की सख़्त कार्रवाई के लिए बड़े लाट साहब ने बादशाह को फ़ोर्ट विलियम के क़िले में क़ैद कर लिया। उस गिरफ़्तारी में गेहूँ के साथ घुन बनकर दयानतुद्दौला भी गढ़ी में दाख़िल हुआ क्योंकि वो मटियाबुर्ज में उन दिनों नवाब की चिलमें भरता था।

उस नज़रबंदी में जानेआलम दिन-रात करवटें बदलते थे और तकलीफ़ें उठा रहे थे मगर दयानतुद्दौला पर वही लखनवी अन्दाज़ और नवाबी शान का नशा सवार था जिसके लटके सदा से मशहूर हैं। जैसे कि जब कभी कोई यूरो-पियन जहाज़ दरियाए हुगली में से होकर फ़ोर्ट विलियम के सामने से गुज़रता था तो उस पर लहराने वाला यूनियन जैक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की उस प्रधान गढ़ी के सम्मान में झुका दिया जाता था। ऐसे मौक़े पर दयानतुद्दौला ताली पीटकर कहता, 'ए लोगो देखो, बरतानिया का झण्डा मेरे आक़ा ग़रीबपरवर को

सलामी दे रहा है।"

जबकि हक़ीक़त यह थी कि नवाब साहब सीलन और मच्छरों से भरी एक कोठरी में अपनी तक़दीर को रोया करते थे।

दयानतुद्दौला नवाब के साथ कुछ दिन तो क़ैद में रहा फिर कौंसिल से ज़ियारत की इजाज़त माँग कर वहाँ से निकल गया।

बशीरुद्दौला ख़्वाजासरा वाजिद अली शाह के लिए ऐशो-इशरत का सामान इकट्ठा करता था। उस समय लखनऊ में दिलबर और हैदरी नाम की दो तवायफ़ बहनें नाच-गाने में बेहद मशहूर थी। उन्हें बशीरुद्दौला ने ही क़ैसरबाग़ के परीख़ाने में पहुँचाया था। जिसमें से सिर्फ़ बारह साल की उम्र वाली हैदरी नवाब की नज़र में चढ़ गयी और 'सुल्तान परी' के नाम से मशहूर हुई।

कम्पनी सरकार बादशाह के इस रवैय को बेहद नापसंद करती थी। रेज़ीडेंट अवध कर्नल स्लीमन ने सितम्बर १८५२ में लार्ड डलहौज़ी को एक ख़त लिखा जिसमें ज़िक्र किया कि इस समय उनके अति प्रिय दो हिजड़े दयानतुद्दौला और हुसैनुद्दौला हैं। दो सारंगिए अनीसुद्दौला और मुसाहिबुद्दौला है। सारंगियों के हाथों में दीवानी अदालत की हुकूमत है और हिजड़ों के हाथों में फ़ौजदारी का महकमा है।"

२ जनवरी, १८५६ को स्लीमन ने गवर्नर-जनरल को कलकत्ते भेजे गये अपने एक ख़त में लिखा, "बादशाह मुहर्रम के अवसर पर गले में ढोल डालकर घूमता फिरता है···वह शायद लखनऊ का सबसे बड़ा ढोलकिया बनना चाहता है···उसे हिजड़े और गवैये हर वक़्त घेरे रहते हैं।"

अवध के नवाबों के अनुसार ख़्वाजासरा पढ़े-लिखे, गुनवन्त और वफ़ादार थे। बादशाह ने मई, १८५७ में कम्पनी सरकार को भेजे गये एक पत्र में लिखा था कि "ये ख़्वाजासरा बहुत ही क़ाबिल और पढ़े-लिखे लोग होते थे। चूँकि हम मुसलमानों में परदा होता है इसलिए मुग़लों के दरबार की तरह हमारे महलों में भी आने-जाने लायक़ यही थे। अनेक क़ाबिल ख़्वाजासरा हमारे बुज़ुर्गों के वक़्त से हजारों रुपये माहवार पेंशन पाते रहे हैं। नवाब वजीर शुजाउद्दौला की बेगम के साठ लाख रुपये का इंतज़ाम अल्मास अली ख़ां ख़्वाजासरा के हाथों में था। हमारे कर्मचारी मसीहुद्दौला, हकीम दवामुशुफ़ुद्दौला, सेहतुद्दौला, तबीबुद्दौला आफ़ताबुद्दौला—ये सभी साहिबे इल्म थे। ख़्वाजासरा अनीसुद्दौला के पास रियासत का बहुत ज्यादा काम था। ख़्वाजासराओं की अपनी अलग बस्तियाँ उस ज़माने में आबाद थी। मुहम्मद अली ख़ां का बँगला अपनी शानो-शौकत के लिए प्रसिद्ध था। इसी तरह टुन्नीजान का मकान काँच की चूड़ियों से जड़ा हुआ था। लखनऊ में अबरगंज, महबूबगंज, हसनगंज, तहसीनगंज आदि मुहल्ले ख़्वाजासराओं के नाम पर ही बसे हुए है।

महफ़िल लखनवी भाँड़ों की

एक जमाने में लखनऊ की रंग-रौनक़ भरी महफ़िलों में भाँड़ों का होना वैसे ही ज़रूरी हुआ करता था। जैसे पायजामे में इज़ारबन्द का होना। ये किन्नर क़ौम न सिर्फ़ अपने नाच-गानों के हुनर या ग़ज़ल, कव्वाली की अदायगी के लिए बेजोड़ रही है, बल्कि अपनी लतीफ़ागोई नोक-झोंक, हाजिरजवाबी और बेमिसाल नक़्क़ाली के लिए भी दूर-दूर तक मशहूर रही है। कहा जाता है कि नक़ल उतारने की कला विक्रमादित्य के दरबार से हिन्दुस्तान में क़ायम थी लेकिन मुग़लों के वक़्त में भाँड़ों को बड़ा संरक्षण मिला। जब दिल्ली उजड़ी तो लखनऊ बसा और फिर तो लखनऊ के भाँड़ों ने अपने तमाशों और लफ़्फ़ाज़ी से दुनिया में नाम क़ायम कर लिया। इन भाँड़ों में घर-गृहस्थ, पढ़े-कढ़े, मुरीद-मोमिन हर तरह के भाँड़ हुआ करते थे। जब इनका वक़्त था तो इस पेशे को बड़ी क़द्रनजरी से देखा जाता था। भाँड़ भी ख़ानदानी होते थे। जिनमें काश्मीरी भाँड़ों को सबसे ज़्यादा रुतबा हासिल था।

नवाब आसफ़ुद्दौला के वक़्त में भाँड़ों की बड़ी इज़्ज़त हुआ करती थी। होली, बसंत या ईद के दिनों में भाँड़ों की महफ़िल को दरबार की तरफ़ से इनाम-इकराम मिला करते थे। जब दिल्ली से उठकर सौदा, सोज़, दाग़ जैसे शायर लखनऊ आकर बस गये तो भाँड़ों का रुतबा डाँवाँडोल होने लगा। और तब मैदाने रंग में भाँड़ों को अपना पैर जमाये रखने के लिए कुछ और तरकीबें ढूँढ़नी पड़ीं।

एक बार उस्ताद दाग़ की सलाह पर शीशमहल के सहन में बज़्मे मुशायरे का इन्तज़ाम किया गया जिसमें सौदा, मीर जैसे शायरों ने ग़ज़ल पढ़ीं। उस साल भाँड़ों की नक़ल पर किसी ने ग़ौर नहीं किया और मुशायरे की महफ़िल को ही क़द्र दी गई। इस अपमान और नुक़सान से भाँड़ों को बहुत ठेस पहुँची

और उन्होंने अपने पेशे की हिफ़ाज़त के लिए अगले रोज एक नई नक़ल तैयार कर ली। एक भाँड़ शेर की खाल ओढ़कर मंच पर उतरा और दूसरे दो भाँड़ उसका शिकार खेलने निकल पड़े।

हँसने-हँसाने का समाँ इस तरह बाँधा गया कि एक कमसिन भाँड़ शिकारी की हैसियत से आगे बढ़ा मगर उसके हाथों में शिकारी की बन्दूक़ काँप रही है। शेर को देखकर ख़ुद उसका दम निकला जा रहा है और वो किसी भी तरह निशाना नहीं साध पा रहा है। बन्दूक़ अब गिरी तब गिरी की नौबत आ पहुँची। तब उसके साथ का बड़ा भाँड़ उसकी बन्दूक़ को पीछे से आकर सँभालने लगा और लड़के को डाँट कर कहने लगा, "अबे, इधर-उधर क्या देख रहा है बेहूदे, दाग···" लड़के को पसीने छूट रहे हैं और भाँड़ चीख़ रहा है, "सँभल जा कमबख़्त, दाग···"

छोकरा फिर लरज के रह गया तो उसने फिर डपट दिया—

"अबे उल्लू के पट्ठे दाग···हरामज़ादे, दाग···"

उधर भरी महफ़िल से दाग़ साहब उठकर जा चुके थे। क्योंकि प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से वहुत कुछ उन्हें सुनाया जा चुका था।

यह ढंग और रुचि अच्छे स्तर की नहीं कही जा सकती परन्तु शासन की निगाह में अपना महत्त्व बनाये रखने का भी एक दाँवपेच ही था।

नवाब सआदत अली ख़ां के वक़्त में किसी रईस ने एक नक़्क़ाल को इनाम में एक बेहद फटा-पुराना दुशाला दे दिया था। भाँड़ों ने उस दुशाले को लेकर एक नया तमाशा तैयार कर दिया।

एक ने हाथ में दुशाला लेकर उसे उलट-पलट कर देखा और निगाहें जमा कर उसमें कुछ पढ़ने लगा।

दूसरे ने सवाल किया, "अमाँ, क्या देख रहे हो?"

जवाब मिला, "कुछ तहरीर है। पढ़ने की कोशिश कर रहा हूँ।"

उसने बड़े अन्दाज से पूछा, "आख़िर लिखा क्या है, मैं भी तो सुनूँ।"

पहले ने जेब से ऐनक निकाली और इस कढ़ाई के बूटे को अटक-अटक कर पढ दिया—

"ला इलाहा इल्लिल्लाह···"

दूसरे ने फिर पूछा, "अरे बस, क्या इतना ही क़सीदा है? मुहम्मद उर-रसूलुल्लाह" नहीं लिखा है?

पहले ने तमककर जवाब दिया, "अरे वो कैसे लिखा हो सकता है। हमारे हज़रत से पहले का जो है।"

भाँड़ों के बात कहने का ढंग कुछ निराला होता है। जो अपने आप में एक लतीफ़ा बनकर रह जाता है।

बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के वक़्त में रेज़ीडेन्सी में कुछ भाँड़ों ने नक़्क़ाली का हुनर दिखाया। जिसके बाद दावत का इन्तज़ाम हुआ। अंग्रेज़ी तहज़ीब से मेज़-कुर्सी पर कोरमा-पुलाव का डिनर हुआ और उसमें मुर्ग़ भी पकाया गया था। इत्तिफ़ाक़ से परोसने वालों ने भाँड़ों के सरग़ना अच्छे जानी की तश्तरी में मुर्ग़ नही परोसा, जो एक बड़े डोंगे में कुछ हाथ दूर भरा रखा था। खाना शुरू हो गया। अच्छे जानी को बड़ी बेचैनी हुई। मगर वह केवल हँसने लगा। पास बैठे लोगों ने उस बेबात की हँसी का सबब पूछा तो वह भाँड़ बोला, "हँसी इस बात पर आई कि अभी चन्द घंटे पहले ये मुर्ग़ दालान से आँगन में, आँगन से अलगनी पर, और अलगनी से मुँडेर पर दौड़ रहा था। मगर अब इस ग़रीब की ये ताब नहीं रही कि दो हाथ की दूरी नाप ले यानी डोंगे से प्लेट में आ सके!" लोग उसकी ज़बानगोई के क़ायल हुए और शर्मिन्दा होकर मुर्ग़ परोसने लगे।

इसी जमाने में भाँड़ अल्ला वाले की बड़ी धूम थी। नसीरुद्दीन हैदर के वक़्त से करेला भाँड़ दोम की बड़ी धूम थी। (करेला भाँड़ अव्वल दिल्ली में बादशाह मुहम्मद शाह के ज़माने में हुआ था) करेला भाँड़ के साथ सजन, क़ायम, दायम, रज़वी, नौशाद बीबीक़द्र वग़ैरह काफ़ी नामी भाँड़ हुए हैं।

नसीरुद्दीन हैदर के साले अली मुहम्मद ख़ां नवाब सिराजुद्दौला कहे जाते थे। इनकी कोठी चौधरी की गढ़ैया नामक मुहल्ले मे थी, इसलिए ये 'गढ़ैया के नवाब' के नाम से मशहूर थे। नवाब साहब को भाँड़ों की नक़्ल से बड़ी चिढ़ थी और ये भाँड़ों को अक्सर बुरा-भला कहते रहते थे। एक बार शहर में किसी रईस की ड्योढ़ी में दावत थी जहाँ सिराजुद्दौला को भी बुलाया गया था। गरज ये कि नवाब साहब जब वहाँ पहुँचे तो देखा कि भाँड़ों की महफ़िल जमी है। जैसे ही नाच-रंग शुरू हुआ, एक भाँड़ सामने से हाँड़ी में एक मेंढक लेकर बरामद हुआ। मेंढक को फ़र्श पर बिठाकर उस बेनियाज़ ने आवाज़ लगाई, "बाअदब, बामुलाहिज़ा होशियार...नवाब साहब तशरीफ़ ला रहे हैं..."

फ़ौरन ही दूसरा भाँड़ मटककर बोला, "ऐं, मगर वो हैं कहाँ?"

पहले भाँड़ ने जवाब दिया, "ये क्या सामने बैठे हैं," और मेंढक की तरफ़ इशारा करके कहा, "इन्हें गढ़ैया के नवाब कहा जाता है!"

नसीरुद्दीन हैदर के बाद नवाब वाजिद अली शाह ने भाँड़ों की प्रथा को बड़ी पनाह दी। उनके जलसों-मुजरों में भाँड़ों ने चार चाँद लगा रखे थे। क़ायम-दायम उनके वक़्त में सरनाम थे। बादशाह पंजुम जाने आलम को तबाह करने में चार चीज़ों का हाथ था: औरतें, अंग्रेज़, नाचने-गाने वाले और नक़ी ख़ां...। सैयद अली नक़ी ख़ां उर्फ़ मदारुद्दौला उनके ख़ास वज़ीर थे मगर नमकहराम निकले। मज़ा ये कि इस नये वज़ीर से उनकी पहली मुलाक़ात एक तवायफ़ के कोठे पर हुई थी। अली नक़ी तबले के उस्ताद थे और वाजिद अली शाह को

ठुमरियाँ गाने का शौक़ था। बहरहाल इस दोस्ती की बुनियाद ही बुरी थी। राजमहल में पूरी तरह अपना सिक्का जमा लेने की ग़रज से इस वज़ीर ने अपनी एक बेटी भी बादशाह को ब्याह दी थी जिसे अख़्तरमहल का खिताब मिला था।

नवाब अली नक़ी ख़ां की बीवी गौहरआरा बेगम सारे शहर में अपनी शानो-शौकत के झण्डे गाड़ती फिर रही थी। एक बार मुहर्रम के महीने मे किसी मजलिस से लौटते वक़्त ये दोनों नख़ास होकर आ रहे थे। नख़ास में क़ायम-दायम नाम के मशहूर भाँड़ों ने अपनी सबील (शरबत-पानी पिलाने का स्थान) लगा रखी थी।

उस रौनक़मन्द सबील को देखकर वज़ीरे आला और उनकी बेगम ठहर गये। ऐसे नाज़ुक मेहमान नज़र आए तो क़ायम ख़ुद सामने आकर खड़ा हो गया। उसने शरबत पेश किया और सलाम करके बोला।

"ऐ ख़ुदा, नवाब साहब को सलामत और बेगम साहिबा को क़ायम रखे..."

बात अपनी औक़ात से बाहर थी मगर लखनवी अन्दाज़ के परदे में थी, इसलिए बात बिगड़ी नही। नवाब और बेगम सिर्फ़ मुस्कराते रहे और शरबत की दाद देते रहे।

अंग्रेज़ी दौर में भी लखनऊ में भाँड़ों के नाच का रिवाज बदस्तूर क़ायम रहा। हिन्दू-मुसलमान घरों के हर मुबारक़ मौक़े पर भाँड़ों को बुलाया जाता था। ये लोग ग़ज़ल, ठुमरी, दादरा ही नही सेहरे, बन्ने, मुबारकबादें और गालियाँ गाने में भी अपना जवाब नहीं रखते थे। जब ये शादी, तिलक, मुण्डन आदि के मौक़े पर बड़े बुज़ुर्गों का नाम ले-लेकर मुबारकबादें गाते थे तो चाँदी के रुपयों की झनकदार बौछार होती थी और इनाम के दुपट्टे निछावर में मिलते थे। ये लोग शीरीं-फ़रियाद, सुलताना डाकू, गुलबकावली जैसे रूमानी नाटक भी बख़ूबी खेला करते थे। इनकी नाटक मण्डलियाँ हुआ करती थीं जिनमें बादशाह पसन्द, फ़ज़ल हुसैनी खिलौना वग़ैरह की मशहूर पार्टियाँ थीं।

भाँड़ों की नक़ल का पहला दस्तूर ये है कि वो लोग सलाम के बाद घोड़े छोड़ते हैं। कहते हैं कि जब हुज़ूरे आला बहिश्त में पहुँचे तो क्या देखते हैं कि वहाँ भाँड़ ही भाँड़ भरे हैं! इस तरह वो अपने तबक़े की जड़ों में पानी देते रहे हैं।

अब्दुल अलीम शरर साहब तो लखनऊ के भाँड़ों के बारे में यहाँ तक लिख गये हैं कि भाँड़ यहाँ के नेशनल सटायर्स हैं और उन्होंने एक वक़्त में क़रीब-क़रीब वही काम किए है जो इंग्लैंड मे स्पैक्टेटर और टाइटलर ने किए थे।

आज़ादी के बाद तक लखनऊ में मुश्तफ़ा, करामत और राहतजान जैसे नामी-गिरामी भाँड़ रहे हैं मगर ये उस परम्परा की आख़िरी कड़ियाँ कही जा सकती हैं और अब तो वो महफ़िलें सिर्फ़ बीते वक़्तों की कहानियाँ बनकर रह गई हैं।

रेज़ीडेंसी और रेज़ीडेंट

लखनऊ में गोमती के किनारे एक ऊँचे टीले पर नवाब आसफ़ुद्दौला के समय में सन् १७८० में रेज़ीडेंसी की इमारत बननी शुरू हुई थी। इस हवादार खुली फ़जाँ में बनने वाले यह मकान सन् १८०० में तैयार हुए थे मगर अब नवाब सआदत अली ख़ां की हुकूमत का वक़्त था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की तरफ़ से भेजे गये ठंडे मुल्क के रहने वाले फ़िरंगी अफ़सरों ने अपने रहने के लिए इसी जगह को सबसे ज्यादा पसन्द किया। उन्हें लखनऊ को भविष्य में तबाह करने के लिए इससे बेहतरीन क़िला और नज़र नहीं आया और उसी समय से यह मेहमानख़ाना रेज़ीडेंटों की गढ़ी यानी रेज़ीडेंसी बन गयी।

रेज़ीडेंट वह गोरा अफ़सर हुआ करता था जो ब्रिटिश हुकूमत की तरफ़ से नवाबों या राजाओं की सुरक्षा-सेवा में एक सलाहकार के तौर पर भेजा जाता था मगर दरअसल उसका काम, उन शाही हस्तियों की हर वक़्त पर निगरानी रखना और बनते कामों को बिगाड़ते रहना होता था। इस बारे में कलकत्ता कौंसिल के मेम्बर श्री शोर ने बड़ा दिलचस्प बयान दिया था कि रेज़ीडेंट इसीलिए रखा जाता था कि वह जिस राज्य में रहे वहाँ दुर्व्यवस्था और गड़बड़ी पैदा करे।

नवाब के लिए शहर में उस गोरे रेज़ीडेंट को रखना सवा सौ रंडियों को रखने से ज्यादा ख़र्चीला पड़ता था। शुरू में ही आसफ़ुद्दौला का रेज़ीडेंट और उसके दफ़्तर के ख़र्च के लिए साढ़े नौ लाख रुपये सालाना देना पड़ता था। फिर भी ये तबक़ा अपनी नमकहरामी से बाज़ नहीं आता था। उनके वालिद मरहूम नवाब शुजाउद्दौला की बक्सर की लड़ाई में जो हार हुई थी उसका नतीजा ये अंग्रेज़ी रोग था जो आसफ़ुद्दौला भुगत रहे थे, मर्ज़ धीरे-धीरे लाइलाज होता गया और आख़िर में वाजिद अली शाह को ले डूबा।

नवाब आसफ़ुद्दौला ने एक बार कोशिश की थी कि यह रेजीडेंट का ओहदा ख़त्म कर दिया जाए। उनके कहने-सुनने पर ३१ सितम्बर, १७८३ को यह पद समाप्त भी कर दिया गया मगर उनके बदले में एक अंग्रेज़ अफ़सर प्राइवेट एजेंट बनकर रहने लगा जिसका ख़र्च ख़ज़ानाए अवध से बारह लाख रुपये सालाना अदा करना पड़ा। ग़रज़ यह कि नवाब को जल्दी ही तौबा करनी पड़ी और रेज़ीडेंट का सिलसिला फिर क़ायम हो गया।

लखनऊ में नवाबी के आठ तख़्तों की मुद्दत ८१ वर्ष थी (सन् १७७५ से १८५६)। इस दौर में ब्रिटिश एजेंटों की जो रेल-पेल रेज़ीडेंसी में रही उसका ख़ाक़ा बड़ा दिलचस्प है।

नवाब आसफ़ुद्दौला की सल्तनत में जान ब्रिस्टो साहब कलकत्ते से रेजीडेंट अवध बनाकर भेजे गये जिनसे नवाब की पहली मुलाक़ात मेंहदीघाट में हुई थी। जान ब्रिस्टो शेर का शिकार खेलने के बड़े शौक़ीन थे। उनके बाद मार्निगटन साहब रेज़ीडेंट बनकर लखनऊ आए मगर जल्दी ही वापस लौट गये। और उनकी जगह पर जान ब्रिस्टो साहब कुछ दिनों के लिए तशरीफ़ लाए। जब मिस्टर चेरी साहब रेज़ीडेंट हुए तो आसफ़ुद्दौला के साथ उनके नायब राजा झाऊलाल ने कुछ ऐसा रंग जमाया कि दीवान राजा टिकैत राय की दीवानी छिन गयी मगर चेरी साहब की सिफ़ारिश पर राजा टिकैत राय को दुबारा दीवानी मिली जिससे दरबार मे कुछ तनातनी क़ायम हो गई। आसफ़ुद्दौला की दरख़्वास्त पर चेरी साहब को बदलकर बनारस भेज दिया गया और उनकी जगह लम्सडन साहब रेज़ीडेंट होकर आये। सन् १७९७ में जब आसफ़ुद्दौला का इन्तक़ाल हुआ, लम्सडन साहब जनाज़े में शरीक़ हुए थे। नवाब वज़ीर अली ख़ां, जो आसफ़ुद्दौला के बेटे कहे जाते थे, को गद्दी पर बिठाया गया, मगर कम्पनी सरकार ने उन्हें 'हराम का बच्चा' साबित करके तख़्त से नीचे उतार दिया और बनारस भेज दिया। इस ताब में उसने चेरी साहब को उसी शहर में क़त्ल कर दिया और उम्र-भर के लिए कम्पनी की हथकड़ियाँ पहन ली।

सन् १७९८ में बनारस से आसफ़ुद्दौला के भाई सआदत अली ख़ां को लाकर अवध की राजगद्दी पर बिठाया गया। जिस समय यह नवाब गद्दी पर बैठे कर्नल स्काट साहब और रेज़ीडेंट लम्सडन साहब कलकत्ता लौट गये और लीडन साहब रेज़ीडेंट बनकर लखनऊ आए। फिर सन् १८०६ में सर जॉन कालिन्स रेज़ीडेंट अवध रहे जो मार्टिन साहब के दामाद थे जिनको गोरी बीबी ब्याही थी। अपनी बीवी की मौत के बाद कालिन्स साहब उसके रेशमी बालों की चोटी की टाई गले में बाँधकर निकलते थे। ये बड़े नेकदिल और ख़ुशमिज़ाज आदमी थे। मगर ज़्यादा दिन न जिये। ये ११ जून, १८०७ को मर गये, इनको अमीनाबाद और गोलागंज के बीच दफ़्ना दिया गया। आज भी कॉलिन्स साहब का ऊँचा मज़ार,

'कल्लन की लाट' के नाम से मशहूर है।

अब कर्नल बेली रेज़ीडेंट अवध बनकर आया। इसके समय में अंग्रेज़ों की ख़ूब तरक्की हुई और रेज़ीडेंसी बेली गारद के नाम से मशहूर हो गयी। सन् १८१४ में सआदत अली ख़ां को अखनी में जहर देकर मौत की नींद सुला दिया गया। कहा जाता है कि इस काम में रेज़ीडेंट सर जॉन बेली का भी हाथ था। बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की ताजपोशी के वक़्त भी यही रेज़ीडेंट मौजूद था। इसके बाद मिस्टर डेविडसन और कैप्टन शेक्सपियर की बारी आयी, मगर उनके पैर यहाँ ज्यादा दिन न टिक सके।

जब सन् १८२६ में बादशाह नसीरुद्दीन का जमाना आया तो कर्नल साहब के बेटे मेडक साहब रेज़ीडेंट बनकर आये। उनकी बीवी गुजरात के नवाब की बेटी थी, इसीलिए नसीरुद्दीन हैदर ने उसे अपनी बेगमों के महल हुस्नबाग़ में रखा था मगर मेडक बड़ा बेढब था। उसने रेज़ीडेंसी के अहाते मे नवाब या उनके वज़ीरों के हुक़्क़े पेचवान के आने पर रोक लगा दी थी और बेली गारद के दायरे में भी किसी हिन्दुस्तानी को छतरी लगाने की मनाही कर रखी थी। मज़ा तो तब आया जब इसी बादशाहत में मेजर जान लो साहब रेज़ीडेंट बनकर पधारे। इनमें और बादशाह में 'जॉन लो, ईमान लो' जैसी दोस्ती पैदा हो गयी थी, क्योंकि नसीरुद्दीन हर विलायती माल के आशिक़ थे और फ़िरंगियों की सोहबत बहुत पसंद करते थे। जब बादशाह की महबूबा क़ुदसियामहल जन्नत सिधारीं तो मेजर लो साहब मैनचेस्टर के रूमाल से अपने दोस्त के आँसू पोंछने चक्कर वाली कोठी आए और जब उनकी शादी रौशनुद्दौला की भांजी मुमताज उल-द-हर (कंगाल-महल) से हुई तो लो साहब ने अपने हाथों कलाबत्तू का सेहरा नसीरुद्दीन हैदर के सर बाँधा और नजर की गिलौरियाँ खाईं। बादशाह विलायत से भेजे गये सदा-बहार शबाब के नश्तर लगवाकर और अंग्रेज़ी शराब पी-पीकर अपनी मिट्टी ख़राब कराते रहे। आख़िरकार कम उम्र में ही सफ़र तवील किया। जिस वक़्त इरादतनगर से नसीरुद्दीन के मज़ार पर तारीख़े वफ़ात पढ़ी गयी, मेजर लो साहब मक़बरे के बाहर बेचैन टहलते रहे। इसके बाद जब पिछले बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की बिगड़ैल बेवा बादशाह बेगम साहिबा ने अपने नाबालिग़ पोते मुन्नाजान को लाल बारादरी में गद्दी पर बिठाने का स्वाँग रचा तो मेजर जॉन लो रेज़ीडेंट ने ही उन दादी-पोते का होश ठिकाने करके चुनारगढ़ रवाना किया और मुहम्मद अली शाह को तख़्तनशीन किया।

इसके बाद कर्नल रिचमांड साहब रेज़ीडेंट बनकर आये। बादशाह अमजद अली शाह उन्हें दिलकुशा कोठी में अपने हवादार पर बिठाकर हाथों में हाथ लेकर छतर मंज़िल तक लाये थे। २६ नवम्बर, १८४८ को रिचमांड साहब का तबादला हो गया और कुछ दिनों तक मेजर बर्ड साहब ने काम चलाया। वास्तव

में ये कर्नल स्लीमन के सहायक अधिकारी थे। इनकी लिखी हुई ऐतिहासिक पुस्तक 'अवध की लूट' प्रसिद्ध है । इन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी पुस्तक मे लिखा है कि सन् १७६५ की संधि के बाद से अवध का राज्य छीनने तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अवध के राज्य से ५० करोड़ रुपया केवल नक़द रूप से वसूल किया।

इसी बीच डलहौज़ी ने लखनऊआ ख़रबूज़े के लिए एक पैना चाक़ू ढूँढ़ निकाला जो बड़ा शातिर और मक्कार आदमी था, नाम था कर्नल स्लीमन। एक मुद्दत से लखनऊ की दौलत कम्पनी सरकार के हाथों घसीटी जा रही थी । जब ये सोने की ख़ान ख़ाली हो गयी तो स्लीमन अवध पर बाज़ बनकर टूट पड़ा। स्लीमन बिना पलीते का बम था, जिसने आते ही शहर में आग लगानी शुरू कर दी जिसके धुएँ से रेज़ीडेंसी काली पड़ गई। इससे पहले यह झाँसी में रहा था और उस रियासत को ठिकाने लगा चुका था।

कर्नल स्लीमन साहब १८४९ से १८५६ तक रेज़ीडेंट बनकर लखनऊ मे रहे । इसी बीच उसने अवध की ख़ूब छानबीन करके एक किताब 'स्लीमन जर्नी थ्रू किंगडम आफ़ अवध' लिखी जो प्रसिद्ध है। अवध के इस दौरे के लिए इसने वाजिद अली शाह से तीन लाख रुपये ऐंठकर अपने सफ़र में ख़ूब तबीयत से ख़र्च किये थे।

स्लीमन का लिखा एक ख़त १८५८ में 'लंदन टाइम्स' में प्रकाशित हुआ । एक वाक्य में वह साफ़-साफ़ कहता है, "शहर लखनऊ में एक बेवक़ूफ़ बादशाह और एक लुच्चा वज़ीर है।" १८ अगस्त, १८४९ में स्लीमन ने लार्ड डलहौज़ी को ख़त लिखा था, "अवध की भूमि भारत में सबसे अधिक उर्वर है। वहाँ के आदमी भारत में सबसे अच्छे हैं। हमारे शासन में यह चमन बन सकता है···बादशाह का दिमाग़ ही सही नही है।"

स्लीमन के जैसा बदज़बान और तमीज से ख़ाली रेज़ीडेंट लखनऊ के इतिहास में दूसरा नही आया। उसका बर्ताव इतना बेअदब था कि वाजिद अली शाह जैसा सहिष्णु नरेश ही इस बात को सहन कर सकता था। बादशाह को ज़लील करने की उसने हर कोशिश की। एक बार उसने वाजिद अली शाह पर अपने क़त्ल का झूठा इल्ज़ाम लगाया । इसके लिए उन बेचारों ने उसे महल में बुलाकर क़ुरान शरीफ़ की क़सम खाई, मगर स्लीमन के दिल का मैल साफ़ नहीं हुआ। इस घटना के कुछ दिन बाद ही रेज़ीडेंट महाशय को एक अरबी घोड़े ने उठाकर पटक दिया जिससे उनकी जाँघ की हड्डी टूट गयी। उसके बाद वह चलने-फिरने तक को मोहताज हो गये और जब तक अवध में रहे हाथी या ताम-जान पर ही चलते रहे ।

एक बार रेज़ीडेंसी के सामने सड़क पर वाजिद अली शाह की सवारी महल

की तरफ़ जा रही थी। बेली गारद का एक सिपाही छाता लगाये उधर से निकला। बादशाह के सम्मान में लोगों ने उस रंगरूट को छतरी हटाने के लिए कहा। वह अंग्रेज़परस्त जब इस पर नमाना तो जनता ने उसका छाता छीन लिया। उस सिपाही ने यह बात अपने सूबेदार से कही जिसने उसको स्लीमन साहब के कानों तक पहुँचा दिया। रेज़ीडेंसी पर इस बात का यह असर हुआ कि उसने यह हुक्म दिया कि जब तक इस रास्ते से किसी शाही वजीर की सवारी निकले तुम लोग छतरी लगा कर निकला करो और जो लोग मना करें उनकी डंडों से ख़बर लो। बादशाह ने जब तक उनके मिज़ाज में यह फ़ितूर पाया तो उस सड़क का रूख़ हमेशा के लिए छोड़ दिया और उनकी सवारी गोलागंज होकर चौक आने-जाने लगी।

स्लीमन ने सन् १८२६ में लिखा था, "वाजिद अली शाह नीचे तबक़े के गाने-बजाने वालों से मेलजोल रखते हैं। वह अपने वज़ीर से हफ़्ते-पन्द्रह दिन में मुलाक़ात करते हैं--वो भी क़िले में नहीं एक ढोलकची के घर। उसने लिखा है कि वस्तुतः अवध में कोई सरकार नही रह गयी है। गवैयों और ज़नानों को छोड़कर नवाब और किसी से नहीं मिलता है। सन् १८५२ में डलहौजी को एक वक़्त में उसने दो रिपोर्ट दी है। इस समय उनके अति प्रिय दो हिजड़े दयानतुद्दौला और हुसैनुद्दौला, और दो सारगियों—अनीसुद्दौला और साहिबुद्दौला—के हाथों में दीवानी अदालतों की हुकूमत है। हिजड़ों के हाथ में फ़ौजदारी का महकमा है। अली नक़ी ख़ाँ बादशाह का सबसे प्रिय वजीर है, जिससे उनकी पहली मुलाक़ात एक क़स्बन तवायफ़ के कोठे पर हुई थी। आजकल तो बादशाह को शहर का सबसे बड़ा तबलची बनने का शौक़ चर्राया है। प्रशासन की वह कोई परवाह नहीं करता और यह जानने की कोशिश भी नहीं करता कि उसकी सल्तनत में क्या हो रहा है।"

आगरा अख़बार ने लिखा था कि मुन्नीजान नाम की एक चमक चौदस रण्डी से स्लीमन का बड़ा लगाव था, जो महल में मुजरे करके वहाँ के सब राज़ समेट लाती थी और एक-एक भेद मोहरों के बदले स्लीमन को देती थी।

५ सितम्बर, १८५४ को सर जेम्स आउटरम इस शहर फ़िरदौस में आये। उनका डेरा दिलकुशा के महल में पड़ा। वाजिद अली शाह ख़ुद उनसे मिलने बाग़ दिलकुशा गये और अगले रोज़ रस्म के मुताबिक़ आउटरम भी बादशाह मंजिल की ड्योढ़ी पर हाज़िरी देने आया। सन् १८५५ तक आउटरम रेज़ीडेंट अवध रहा। इसे जब कुछ दिनों के लिए काम से कलकत्ते जाना पड़ा तो इसी बीच कैप्टेन हेज़ साहब ने रेज़ीडेंसी का काम सँभाला था।

३० जनवरी, १८५६ को आउटरम साहब लखनऊ लौटे तो उनके तेवर भी बदले हुए थे। इस बार कम्पनी सरकार ने उन्हें गुस्ताख़ी का नया चश्मा पहना

कर भेजा था। ग़रज ये कि ४ फ़रवरी, १८५६ को सुबह आठ बजे रेज़ीडेंट आउटरम अपने साथ कैप्टेन हेज़ और वेस्टन को लेकर ज़र्द कोठी में वाजिद अली के साथ पहुँचे उसने कोई बात तहज़ीब से नहीं की बल्कि गवर्नर-जनरल का एक निहायत बेहूदा ख़त बदतमीज़ी के साथ नवाब के हाथो में रखा।

फ़रवरी, १८५६ में नवाब की सल्तनत ज़ब्त हो गयी। कहा जाता है गद्दी से उतरते वक़्त वाजिद अली शाह को रेज़ीडेंट ने अपने हाथों से जूतियाँ पहनाईं क्योंकि उनको ख़ुद जूते पहनने की आदत न थी और इस नाज़ुक वक़्त में उनका साया भी साथ न था। १३ मार्च, १८५६ को जब नवाब कलकत्ते के लिए रवाना हो गये तो आउटरम भी वहीं लौट गया और ८ मई, १८५६ से चार्ली जैक्सन साहब ने आगरे से आकर रेज़ीडेंट अवध का काम सँभाला।

२६ मार्च, १८५७ से सर हेनरी लारेंस चीफ़ कमिश्नर ने रेज़ीडेंट का पद सँभाला। उन बेचारो को ही ग़द्र की सारी शिद्दत झेलनी पड़ी। उन्होंने १ मई, १८५७ को लखनऊ में एक दरबार किया जिसमे स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों को खूब धमकियाँ दी गयीं मगर वह अपने मक़सद में नाकामयाब रहे। ३० जून, १८५७ को दुबले-पतले हेनरी लारेंस साहब को चिनहट, इस्माईलगंज और कुकरायल नदी के किनारे हिन्दुस्तानियों से जूझना पड़ा और उन्हें शिकस्त मिली इसके बाद ही २ जुलाई, १८५७ की सुबह नौ बजे ये अपने कमरे में अपने सेक्रेटरी कैपर के साथ सरकारी काग़ज़ात देख रहे थे, एक ग़रीब हिन्दुस्तानी कुली बाहर बैठा पंखा खींच रहा था। थोड़ी देर में एक गोला दनदनाता हुआ कुली के सर को फाँदता हुआ लारेंस महाशय का बायाँ पैर छीलता हुआ कमरे के बाहर निकल गया इस ज़ख़्म को भरने की औक़ात न हुई और ४ जुलाई, सन् १८५७ को सुबह तड़के लारेंस साहब रेजीडेंसी के डॉ० फ़ेयरर के मकान पर ख़त्म हो गये। उनका मज़ार रेजीडेंसी में ही है।

अब मेजर बैंक ने कुछ दिन रेज़ीडेंट अवध का इन्तज़ाम सँभाला मगर बद-नसीबी से उनको मि० गबिन्स के कमरे में मार डाला गया। वह भी बेली गारद में ही दफ़न हैं।

उन दिनों आउटरम साहब फ़ारस की हवा खाने गये थे जब अवध में ग़द्र हो गया तो ये फिर बुलाकर अवध में भेज दिये गये। उन्होंने रेजीडेंसी में बैठकर रेज़ीडेंट का चार्ज लिया। इस बार उसके कलेजे में आग भरी हुई थी उसने बेगमाते अवध की ख़ूब-ख़ूब दुर्गति की। बेगम हज़रतमहलअपने बेटे बिरजीस-क़द्र को गद्दी पर बिठा कर लखनऊ में हुकूमत कर रही थी कि कॉलिंस कैम्पवेल के उठ जाने के बाद मार्च, १८५८ में रेज़ीडेंट ने क़ैसरबाग़ पर हमला करके बेगम को लूटना शुरू कर दिया और तब इन माँ-बेटों को अपनी राजधानी छोड़कर भागना पड़ा। इस रेज़ीडेंट जनरल आउटरम को बाद में लकवा मार

गया था ।

इस विद्रोह को अपनी कूटनीति और युद्धनीति से दबा लेने के बाद लखनऊ पर लार्ड क्लाइड (कर्नल कैम्पवेल) साहब का अधिकार हो गया और उनके बाद से ये रेज़ीडेंट का पद और परम्परा समाप्त हो गई। अब ये सूबा ब्रिटिश सरकार के कब्जे में आ चुका था। रेजीडेंसी ग़द्र की आँधी में खँडहर हो चुकी थी और उस पर यूनियन जैक लहराने लगा था।

अवध में विदेशी कुत्ते

आज के तथाकथित सभ्य समाज में सुदूर देशों की विलायती नस्लों के कुत्ते किसी बँगले या परिवार की प्रतिष्ठा का विषय बन चुके हैं। इन कुत्तों का अभारतीय होना गौरव-गरिमा का प्रधान मूल है। इस प्रकार के किस-किस भाँति के और कितने कुत्ते किसके पास हैं यह उस भद्र मनुष्य की रुचि और सामर्थ्य का एक सीधा-सादा मापदण्ड बन गया है। कुत्तों की किसी भी प्रदर्शनी या प्रतियोगिता में हिन्दुस्तानी कुत्तों की कोई पूछ नहीं होती, उन नुमाइशों की शोभा और उन पुरस्कारों के अधिकारी सदा परदेशी कुत्ते बने हैं।

अवध अपनी वैभवपूर्ण संस्कृति, नवरंगी इतिहास और गंगा-जमुनी सभ्यता के लिए प्रसिद्ध है। न जाने कितने संदर्भों में अवध को प्रथम प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसी प्रकार विदेशी कुत्तों का सर्वप्रथम अवध में ही पदार्पण हुआ और यहाँ हमेशा इनके सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटीं।

अवधेश महाराज दशरथ की अपूर्व सुन्दरी महारानी कैकेयी हिन्दुकुश पर्वत के निकट केकय प्रदेश की कन्या थीं जिसे अब कोहकाफ़ कहा जाता है। भरत-शत्रुघ्न जब आपने मामा युधाजित के घर से अयोध्या लौट रहे थे तो उन्हें ननिहाल से तमाम और उपहारों के साथ-साथ बढ़िया क़िस्म के कुछ अभारतीय कुत्ते भी मिले थे जो उन भाइयों के साथ ही अयोध्या आये। उन कुत्तों का आना और अयोध्या में अनर्थों का आना एक साथ ही हुआ।

अन्तःपुरे तिसंवृद्धान व्याघ्र वीर्य बलोपमान।
दंष्ट्रायुक्तान् महाकाया शुनश्चोपायनं ददौ ॥

—वाल्मीकि रामायण

जो अन्तःपुर में पाल-पोस कर बड़े किये गये थे, बल और पराक्रम में बाघों के समान थे, जिनकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और काया विशाल थी। ऐसे बहुत से कुत्ते कैकय ने भरत को भेंट में दिये।

नरेश आयात का कदाचित् यह सबसे पुराना उदाहरण हो जो बाद में एक परम्परा बनकर सारे देश पर आँधी की तरह छा गया।

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जहाज ने हुगली के मुहाने में अपना लंगर डाल दिया तब तो उन योरोपीय सौदागरों के साथ फ़िरंगी मेमों, विलायती शराबों और विदेशी कुत्तों का आना एक आम बात हो गई और इसमें कोई संदेह नहीं कि यहाँ के देशी राजाओं के लिए यह तीनों तुरप के पत्ते थे।

सन् १८३७ में जब मुहम्मद अली शाह को बादशाहत मिली तो उनको एक जंगी विलायती कुत्ता नज़राने में मिला। बादशाह की तबीयत इस जानदार तोहफ़े से बाग़बाग़ हो गई उन्होंने उस कुत्त पर दो ख़ादिम रख दिये और साथ ही यह हुक्म हुआ कि गक रुपया रोग़ सिर्फ़ उसकी मेवाख़ोरी पर ख़र्च किया जाय (जबकि उस जमाने में दो रुपये में एक आदमी महीने भर खाता था) उस कुत्ते को पूरी शान-शौकत और ख़ातिरदारी से रक्खा गया मगर वह क़द्दावर जानवर अपनी नस्ल की आम आदत के मुताबिक़ रात को हर आहट पर भौंकता रहता था और उसके इस बेसुरे बिगुल से बादशाह की नींदें हराम हो जाती थीं। उन्होंने इस बात की शिकायत अपने वज़ीरों से की कि कुत्ते की बेहूदी आदत पर किसी तरह पाबन्दी लायी जाय। इस पर कुत्ते के लिए नियुक्त एक दरबारी ने अपनी नेक सलाह ज़ाहिर की कि अगर एक सेर गुलक़न्द और एक बोतल गुलाबजल उस बेढब चौपाये को रोज़ खिला-पिला दिया जाय तो शायद वह कुछ कम भौंके और फिर अगर भौंकेगा भी तो जरूर कुछ सुर में भौंकेगा, क्योंकि रफ़्ता-रफ़्ता उसके गले में मिठास शामिल होती जायेगी। ग़रज़ यह कि हुक्मेशाही इस वास्ते लागू हो गया।

होता दरअसल यह था कि उस कुत्ते को सरे शाम से ही महल से कहीं दूर ले जाकर बाँध दिया जाता था और सुबह सबेरे ड्योढ़ी के दरवाज़े पर लाकर खड़ा कर दिया जाता था। मज़ा तो यह कि सन् १८४० में वह कुत्ता मर भी गया मगर १८४२ में बादशाह अमजद अली शाह के वक़्त तक उसके नाम से एक सेर गुलक़न्द और एक बोतल गुलाबजल दरबारे अवध की तरफ़ से बँधा रहा और ख़ज़ाना यह ख़र्च बर्दाश्त करता रहा।

नवाब वाजिद अली शाह के शासन काल में जब कर्नल स्लीमन रेज़ीडेण्ट अवध बना कर आया तो लखनऊ मे विदेशी कुत्तों की जैसे धूम मच गयी। ग़द्र के बाद बादशाह ने कलकत्ते को लिखा कि अवध में कम्पनी सरकार की हुकूमत शुरू होते ही एक साल के अन्दर लखनऊ से हज़ारों आदमी सिर्फ़ इसलिए चले गये

क्योंकि यहाँ भूखों मरने की नौबत आ गई थी। लंका शायर और मैनचेस्टर के कपड़ों की शहर में धूम मच गयी थी और यहाँ के बुनकर, छीपी, जुलाहे वग़ैरह बेकार हो गये थे। अंग्रेज़ अफ़सरों का दिमाग़ इतना बढ़ चुका था कि वह हिन्दुस्तानियों को जानवरों से ज़्यादा नहीं समझते थे। उन अफ़सरानों के पास कुत्ते ज्यादा उठते-बैठते थे, इंसान कम।

उन्हीं दिनों लखनऊ के कमिश्नर एबिन्सन साहब एक दिन शिकार खेलने को निकले तो उनके साथ उनका प्रिय कुत्ता भी चला, वह कुत्ता रास्ते में चलने वाले एक सीधे-सादे ग़रीब ब्राह्मण पर बेवजह झपट पड़ा। उस बिचारे ने अपनी जान बचाने की ग़रज़ से उस गौरांगप्रिय श्वान को एक लात रसीद कर दी। फिर क्या था, इस ग़लती पर एबिन्सन साहब ने उस हिन्दुस्तानी को इस क़दर पीटा कि वह बेहोश होकर गिर पड़ा और अगले दिन स्वर्ग सिधार गया। उस ब्राह्मण ने अपनी दर्दनाक मौत से सबको ये सबक़ पढ़ा दिया था कि ग़ुलाम हिन्दुस्तानियों को अंग्रेज़ साहब का ही नहीं उनके कुत्तों का भी बख़ूबी आदर करना चाहिए। आज अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद भी हम अपने को अंग्रेज़ी कुत्तों के इश्क़ में बुरी तरह गिरफ़्तार पाते हैं।

अवध में बंदरों का बोलबाला

लंका विजय के बाद जब श्री रामचन्द्रजी, सीता-लक्ष्मण सहित अयोध्या लौटे तो हनुमान, सुग्रीव, अंगद जैसे कपिश्रेष्ठ अवध में पधारे जिनमें कपीश्वर हनुमान महारानी कौशल्या के स्नेहभागी बने और श्री राम के चरणारविंदों की शीतल-सुखद छाया में सदा के लिए यहाँ बस गये। भगवान राम की कपि सेना का अधिकांश यहाँ के वनों उपवनों और भवनों पर छा गया। वही इस प्रदेश के इष्टदेव हैं। उसके बाद से अवध की सरजमीन पर अब तक बदरों की अच्छी ख़ासी बस्तियाँ बस गई है और शायद अवध के तख़्तेशाही से उन्हें इतना लगाव हो गया कि ये अयोध्या और लखनऊ पर छा गये। कुछ भी हो, इन दोनों नगरों में आदि मानवों का जितना सम्मान होता रहा है इतिहास इसकी गवाही देता है।

अयोध्या जाने वाले तीर्थयात्री और पर्यटक जानते हैं कि उस पुरी में बंदरों की धाक कैसी जमी हुई है। हनुमानगढ़ी की सीढ़ियों पर चढ़ने वाला न जाने किन मुश्किलों से, किन तरकीबों से अपना प्रसाद बचाता हुआ चलता है फिर भी कभी-कभी दानलीला हो ही जाती है। यही हाल सरयू घाट पर होता है जहाँ कपड़े बचाना दूभर हो जाता है। मणि पर्वत पर तो वानर सेना अब भी ज्यों की त्यों तैनात रहती है।

फ़ैज़ाबाद के नवाब शुजाउद्दौला की ख़ासमहल बहू बेगम के वक्त म वहाँ बंदरों का जो आलम था, वह इस दोहे से ज़ाहिर है जिसने बेगम के दामन मे ही बंदर बाँध दिए हैं—

> अवध बसन को मन चहै, पै बसिए केहि ओर।
> तीन दुष्ट यामें रहै, बानर, बेगम, चोर।।

बहू बेगम के सौतेले साहबज़ादे सआदत अली ख़ां हनुमान भक्ति के क़ायल

थे और हनुमान भक्तों के बड़े क़द्रदान थे । उन्होंने ही अयोध्या की हनुमानगढ़ी के परकोटे पर दो जंगी तोपें जड़वाई है । जब नवाब आसफ़ुद्दौला ने सरयू के घाट से उठकर गोमती के घाट पर ख़ेमे गाड़ दिये तो पीछे-पीछे सारा लश्कर लखनऊ आ पहुँचा । लखनऊ में हनुमान भक्ति की लहरें दौड़ गई । बड़े-बड़े सत-महंत अयोध्या से आए, जिन्हें नवाब ने पूरे साज-सामान के साथ ऐशबाग़ में बसा दिया। टिकैतगंज में नवाब आसफ़ुद्दौला ने महावीर जी का एक मंदिर भी बनवाया, यहाँ तक कि वो रामलीला में हनुमान जी की आरती भी उतारते थे ।

लखनऊ के नवाबों को दिल्ली के शाही ख़ानदान की बेटियाँ कसरत से ब्याही गईं और वो लोग लखनऊ में ही आ-आकर बस गये थे। अब समधियाने का रंग समधियाने पर ऐसा चढ़ा जैसे ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूज़ा रग पकड़ता है । फिर क्या था, हज़रत अली के नाम पर बहू बेगम के बसाए मुहल्ले अलीगंज में दिल्ली के वजीरज़ादों ने मलिका आफ़ाक़ के नैहरवालों ने बजरंगबली का मंदिर बनवाकर ही छोड़ा । उस मंदिर के सुनहरे कलशों के ऊपर चाँद-तारा उसी नवाबत की निशानी है । इसी तरह निमहरे के पास छाछी कुआँ वाले हनुमान मंदिर पर भी नवाबों की बड़ी आस्था थी।

उस ज़माने में लखनऊ शहर में बदर मारने पर सरकारी तौर से रोक लगा दी गई थी और इस नियम के लिए क़ानून बना दिया गया था ।" यह कर्नल स्लीमन रेज़ीडेंट अवध ने अपनी डायरी 'ए जर्नी थ्रू अवध' में लिखा है । और आज भी इस इलाक़े में बंदर अगर अपनी मौत भी मर जाते हैं तो बड़ी धूमधाम से उनकी मैयत उठाई जाती है ।

लखनऊ में जेठ महीने का पहला मंगल 'बड़े मंगल' के नाम से मनाया जाता है जिसका मेला मशहूर है और यह सिलसिला कई मंगलों तक चलता है । इसमें बंदरों को गुड़-धनिया खिलाने का रिवाज भी है । हनुमान जी की आराधना-अर्चना से अगर नवाबीने अवध फले-फूले तो दूसरी तरफ़ कुछ मिसालें ऐसी भी हैं कि बंदर-बध करने वाले ऐसे तबाह हुए, ऐसे बरबाद हुए कि यहाँ बंदर मारना एक बड़ा गुनाह माना जाने लगा ।

बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के वज़ीर ख़ास आग़ामीर ने न जाने किस धुन में कुछ बंदर मार दिये थे । बस फिर क्या था, तक़दीर ही उलट गयी । बात की बात में विज़ारत से हटा दिये गये और नूरबख़्श कोठी में क़ैद करके डाल दिये गये ।

नवाब नसीरुद्दीन हैदर को अंग्रेज़ी तर्ज़ का शिकार खेलने का बड़ा शौक़ था, मगर जब उन्हें ख़ूंख़ार जानवरों को मार सकने का रुतबा नहीं हासिल हुआ तो उन्होंने दिलकुशा बाग़ में अपने अंग्रेज चमचे मार्ट्ज़ और फ्रेंच नाई डी-रूसेट की सलाह पर लंगूर का शिकार खेल लिया । वो शिकार इस क़दर मनहूस साबित हुआ कि शाम होते-होते बादशाह बाग़ में रहने वाली उनकी माशूक़ा क़ुदसिया-

महल ने दिलशिकनी मे संखिया चाट कर अपनी जान दे दी और बादशाह पर ऐसा पागलपन सवार हुआ कि वो गोमती के किनारे चक्कर वाली कोठी में जाकर बावले होकर चक्कर काटने लगे।

नवाब वाजिद अली शाह के बाप सुरैयाजाह अमजद अली शाह शायद अवध के सिंहासन पर कभी न बैठ पाते अगर उनके बड़े भाई असगर अली खां ने एक बदर मार देने का कुसूर न किया होता। उन्हें उसी दिन तेज बुख़ार चढ़ा और उस जुनून मे उन्हें अपने इर्द-गिर्द बंदर दिखाई देने लगे और अगले रोज 'बदर से बचाओ', 'बंदर से बचाओ' चिल्लाते-चिल्लाते वो बेचारे मर ही गये।

१८५७ के गद्र के जमाने मे बेगम हजरतमहल ने अपने नाबालिग बेटे बिरजीस कद्र को गद्दी पर बिठाकर हुकूमत की बागडोर सँभाली थी। वह अपना दरबार चौलक्खी कोठी में चुपचाप करती थी, जहाँ उनके जाबाज वजीर इन्क़लाब के लिए आपस में सलाह-मश्वरा करते थे और रेज़ीडेंसी के अंग्रेज अफ़सरों तक इस चमन की खुशबू भी नही पहुँचती थी। इसलिए फ़िरंगी चालबाजों को बेगम के प्रधान कार्यालय का पता लगाने का बड़ी चिन्ता थी। कुछ गद्दारों ने उन गोरे अफ़सरों की ये सारी मुश्किलें दूर कर दी। मीर वाजिद अली ने एक लाख रुपये के लालच मे बेगम के स्वामिभक्त वज़ीर कुँवर जयलाल सिंह को फॉसी दिलवा दी। दो दुष्टो ने अंग्रेजों की रिश्वत खाकर बेगम साहब से जाकर कहा कि अगर आप वास्तव मे विजय चाहती है तो अवध के इष्ट हनुमानजी की पूजा करवाइए। बंदरों को गुड़-धनिया खिलवा दीजिए और इस बहाने उनसे भी काफ़ी रुपया ऐंठ लिया। उसके बाद उनसे कहा गया कि आप अपने कार्यक्षेत्र पर एक लाल झण्डा खूब ऊँचा फहरा दीजिए। जब चौलक्खी कोठी पर वो महावीरी ध्वज फहराने लगा तो उन दोमुँहों ने बेलीगारद के अफ़सरो को जाकर बता दिया कि आप लोग महीनों से जिस जगह की तलाश में थे वो उस लाल झण्डे के नीचे है। अब क्या था, कैसर बाग लूटने के लिए जनरल आउटरम की फौजे निकल पड़ीं और उनके रिसालदारों ने चौलक्खी कोठी की तरफ तोपों के मुँह मोड दिये।

ब्रिटिश हुकूमत में सन् १८६६ मे कर्नल ब्रूस साहब ने मोतीमहल के पीछे गोमती नदी पर एक पुल बनवाया। जब इस 'ब्रूस-ब्रिज' का उद्घाटन हो रहा था ऐन मौके पर एक बदर गौरांग महाप्रभु का हैट लेकर नौ दो ग्यारह हो गया। फिर उस पुल पर हमेशा बंदरों की धमाचौकडी देखकर उसे 'मंकी ब्रिज' कहा जाने लगा और आज भी उसके स्थान पर जो नया पुल बना है, हनुमान सेतु कहलाता है। लखनऊ में 'बंदरिया बाग़' एक अच्छा आबाद मोहल्ला है जहाँ के पाँच बँगले मशहूर है। सच पूछा जाय तो लखनऊ की सरज़मीन पर क़दम रखने वाले जब चारबाग पर उतरते हैं तो स्टेशन से ही उनके स्वागत में बदर हाज़िर-नाज़िर हो जाते है। अब और क्या कहना···

बावन मछलियों का शहर

बात लखनऊ और लखनऊ वालों से शुरू होती है। कहते हैं, किसी ज़माने में दिल्ली दरबार के कुछ शायर एक मिसरा सानी लेकर लखनऊ अदब का इम्तहान लेने आये थे जिसका मिसरा ऊला लिखना लखनवी शायरों की ज़िम्मेदारी थी। इस बेढब समस्या-पूर्ति का आधा शेर था—

....

कोसों बढ़ा हुआ है पियादा सवार से

नीम अशआरी (अर्द्धछन्दी) भी ऐसी कि जिसमें मुहरे लगाना कुछ आसान नहीं था। भला ये बात गले कैसे उतारी जाय कि सवार रास्ते में रह जाय और पियादा मंज़िल का मुंह देखे! ख़ैर, तमाम शायर तलाशे गये मगर शेर पूरा नहीं हो सका। तभी देखने वालों ने देखा ये कि हुसैनाबाद के शाही तालाब पर शायरे आज़म सारी दुनिया से बेज़ार पानी में बंसी डाले बैठे हैं और मछलियों से बाज़ी खेल रहे है। ये अपना-अपना शौक़ है जनाब, और किसी को ज़ाती ज़िन्दगी में इतनी दख़ल भी क्या देना! ग़रज़ ये कि बड़े अदबो-तहज़ीब से शागिर्दों ने पीछे से आकर धीरे से अर्ज़ किया कि लखनऊ का सफ़ीनाए अदब डूब रहा है और अब लिल्लाह आप ही का भरोसा है। देखिए न, इस बार कितना पेचीदा मिसरा पेश किया गया है! हुज़ूर ग़ौर फरमाएँ, वो आधा शेर कटी मछली जैसा तड़प रहा है और आप ही चाहें तो उसका जामा बरक़रार हो। उधर मछली मारने की धुन, बंसी लगाने का ध्यान बराबर क़ायम रहा और साथ ही बेसाख़्ता फ़रमाया, लिख लो—

काँधे पे है जनाज़ा तो मुल्के अदम में रूह
कोसों बढ़ा हुआ है पियादा सवार से

और इस मिसरए ग़जब ने दिल्ली के शायरों को लाजवाब कर दिया। अब ऊपर वाला ही जाने कि इस फन के कमाल मे लखनऊ की मछलियो का कहाँ तक हाथ रहा, फिर अवधी मछलियो की बातें तो ऐसे ही आसमान छूती है।

तवारीखे अवध के तमाम नक्शो-निशानात मे मछली ने जो दरजा हासिल किया है वो दुनिया के किसी मुल्क की किसी सल्तनत मे किसी जानवर को शायद अब तक नही मिला है और फिर क्यों न हो, मछली की जात तो वो है कि भगवान तक ने पहला अवतार लेने के लिए इसी रूप-सरूप को पसन्द किया था।

यहाँ आप यही कह सकते है न, कि अवध के नदी-नालों की बहुतायत या मरों, पासियो और मल्लाहो की संस्कृति की इसमें परछाइयाँ शामिल है। मगर मैं कहूँगा—आप जितना भी पीछे तक अवध का इतिहास खोजेंगे, मजर बदलते मिलेंगे, लेकिन मछली आपका दामन नही छोडेगी। तो खैर, वो मछली न सही मछली की हकीकत आपको गले उतारनी ही पड़ेगी। राजा नल के लिए ये कहावत मशहूर है, 'राजा नल पर विपत पड़ी—भूनी मछली ताल गिरी'। और वो राजा नल लखनऊ के निकट नगराम (नलग्राम) स्थल से सम्बन्धित माने जाते है।

अवध मे इक्ष्वाकु वश के राम-लक्ष्मण की पीढ़ियाँ हो या मौर्य युग तथा गुप्त काल का उल्लेख हो, राजपूतों का समय हो या मुगलों का वक़्त—सबमे मछलियों का रुतबा वही का वही मिलेगा।

आज भी जब अवध के हिन्दुओ मे गृहप्रवेश किया जाता है तो पानी से भरी एक कोरी हाँड़ी में जिन्दा मछली साथ लेकर वो लोग नये मकान मे पाँव धरने की हिम्मत पैदा करते है। यहाँ हिन्दू विवाहो के तिलक समारोह की प्रथा मे चाँदी की मछली भेजी जाती है तो मुसलमानी शादी-बारातो की मेहदी-साचक जैसी रस्मो में पानी के घड़े पर सात मछलियाँ मारकर बोध दी जाती है।

आज भी मगल अवसरो पर अवध की औरते लोकगीतो मे गाती है—

जल मे चमके जल की मछरिया,
रन चमके तलवार रे
भरी सभा मे मोरे सैयाँ की पगडिया
सेजिया पे बिन्दिया हमारे।

अब भी किसी के चलते-निकलते वक्त विदा करने वाले मछली में सातो सगुन मानकर 'दही मछली' जरूर कहते है।

कहते है, यहाँ के 'लक्ष्मण टीले' के साथ ही 'मच्छी भवन' नाम का एक बेमिसाल क़िला हुआ करता था। यह वही 'मच्छी भवन' था जिसके साथ की

राजपूती बावली अब बड़े इमामबाड़े की बाँहों में क़ैद पड़ी है। पहले तो आधी बँगला और आधी हिन्दी से बना यह शीर्षक ही क्या अल्शेसियन है फिर जब इसकी भाँति-भाँति से व्याख्या होती है तब फिर पूछना ही क्या ! मच्छी भवन पर तलाश के पत्तों के बराबर मछलियों का राज भी माना जाता है। पुराने लोगों का कहना है कि इस पुरानी गढ़ी के छब्बीस दरवाजों पर एक जोड़ा मछली के हिसाब से पूरी बावन मछलियाँ बनी हुई थीं। इसलिए इस क़िले को 'मछली बावन' कहा जाता था जो बाद में कहते-कहते 'मच्छी भवन' हो गया। तो जनाब, अगर जौनपुर एक मछली वाला शहर है तो लखनऊ बावन मछलियों का शहर हुआ करता था यानी कि यहाँ साल के हर हफ़्ते पर एक-एक मछली का दावा हुआ करता था।

इसी मच्छी भवन पर बाद में एक मुद्दत तक शेख़ों का अधिकार रहा, उस ज़माने में इसके सदर फ़ाटक को 'शेख़ान दरवाज़ा' कहा जाता था। इसी दरे हाकिम पर रेशम की डोर में एक नंगी तलवार उल्टी टँगी रहती थी। इस तलवार को अवध की नवाबी का शुरुआत में ही काट दिया गया था और फिर मच्छी भवन पर नवाबीने अवध के हाथों मछलियों के सतरंगे सिफ़नों की ख़ूब-ख़ूब सजावट की जाने लगी और इधर चौक में मछली वाली बारादरी बना दी गई।

ग़द्र के दिनों में अंग्रेज़ों ने मच्छी भवन को अपना फौज़ी क़िला बना लिया था। जब स्वतन्त्रता सेनानियों के मुक़ाबिले में फ़िरंगियों के पाँव शहर से उखड़ने लगे तो उन्होंने चलते-चलते मच्छी के बारूदख़ाने में पलीता लगाकर उसे उड़ा दिया। अब हुआ यह कि जैसे केले के दरख़्त का सर क़लम कर देने से वह बूटा और फूट के खिलता है वैसे ही मच्छी भवन के टूटने के बाद उन मछलियों का ख़ानदान इस क़दर फला-फूला कि जिसका जवाब नहीं।

सारी नवाबी में यहाँ के हुक्मरानों के महलों पर मछलियाँ छायी रहीं और फिर तो पचासों बरस लखनऊ में यह दस्तूर चला कि हर खाते-पीते आबाद इन्सान के दरे-दौलत पर एक जोड़ा मछली लाज़िमी हो गईं। बात दरअसल यह थी कि ये मछलियाँ किसी तालाब की ज़ीनत तो थी नहीं जो सन सत्तावन के हादसे में ठेस खाकर ग़द्र के नाम पर क़ुर्बान हो जातीं—वे तो लखौड़ी की दीवारों पर जलवा अफ़रोज़ होने वाली चूने की मछलियाँ थीं। सो आज भी उनकी उम्रदराज़ क़ायम है। हाँ, अब ज़रूर नई तहज़ीब के हथौड़े उनकी बोटियाँ काट रहे हैं और अगर दरवाजे से ये मछलियाँ उठ गईं तो यूँ समझिये कि आपकी दुनिया से अच्छे सगुन रुख़सत हो गये।

ये मछलियाँ महज कढ़ाई का कोई बूटा नहीं थीं कि तकिया-ग़िलाफ़ के कोनों पर काढ़ दिया गया और आप उसपे सर रखकर सो गये; क्योंकि ऐसे में आपके हक़ में कुछ बुरी बातों का अन्देशा बना रहेगा। कभी आप वह तसव्वुर करेंगे कि

तकिये पर की मछलियाँ ताल का शैवाल समझकर आपके बालों का चारा चुग रही हैं और आप गंजे हुए जा रहे हैं या फिर आपको ऐसे बेढब ख़्वाब आयेंगे जैसे आप दरिया में डूब रहे है और आपके अग़ल-बग़ल अब सिर्फ़ मछलियाँ ही मछलियाँ हैं यानी कि क़ुदरत की कोई और शै आपका साथ नहीं दे रही है। इसलिए बुज़ुर्ग लोगों ने मछलियाँ बनाने के लिए दरवाज़े की मेहराब का आज़ू-बाज़ू तजवीज किया। जब आपके क़दम शरीफ़ घर से बाहर निकलेंगे तो रस्मे दुनिया के हिसाब से आप पीछे मुड़कर एक बार अपना घर ज़रूर देखेंगे; क्योंकि अच्छी किताबों में सिर्फ़ जवान औरत को पीछे मुड़-मुड़ कर देखने की मनाही है और फिर परिन्दा तक चमन से निकलते वक़्त एक बार मुड़कर अपने आशियाने पर एक निगाह जरूर डालता है। शराबख़ाने से निकला रिन्द और जेलख़ाने से निकला क़ैदी तक पीछे मुड़के एक बार ज़रूर देखता है यानी इन्सानी फ़ितरत का यह भी एक तक़ाज़ा है। फिर आपका घर आपकी जन्नत ठहरा, भले ही आप किराये के मकान में रह रहे हों। घर से निकलने को जन्नतनशीन होना तो नहीं कह सकेंगे।

ख़ैर, छोड़िये, आप घरसे निकले औरआपने पीछे मुड़कर देखा तो आप क्या देखते हैं कि एक जोड़ा मछली बल खायी हुई, लहराई हुई अपने अंगों का कमान ताने आपके सफ़र की सिफ़ारिश में आपकी सलामती का दावा अपने सर ले रही है। अब आप चाहे जिसकी अमानत हों, अब तो मछली की ज़मानत है और यह सोचकर आपकी तबीयत बाग़-बाग़ हो जाती है। यह मंज़र पेश आते ही आपके पैरों में वह ग़ज़ब की बिजलियाँ भर जायेंगी कि अब चलें और आज क्या न कर डालें। गोया कि आप अभी चलने को हैं और महसूस यह हो रहा है कि मंजिल आपके क़दम चूम रही है। सिर्फ़ यही नहीं, जब मछलियों के ख़मों और चाँद कटोरों पर ग़ौर किया तो हमारे जाने आलम ने उसमें और नक़्शो निगारी की कल्पना कर डाली क्योंकि वो सही मानों में औरतों की सूरत के आईने थे।

उन्होंने अपने महलों पर सिर्फ़ मछली ही नहीं जलपरियाँ भी बनवाना शुरू कर दिया यानी क्या कमाल है, मछली का शगुन भी है और रूबरू महबूब का जलवा भी। इस तरह उन्होंने अपनी मज़हबी परम्पराओं के विपरीत मत्स्य कन्याओं की हक़ीक़त को क़बूल किया।

वाजिद अली शाह का राजमुकुट सँभाले हुए जलपरियों के क़ैसरबाग़ में उनकी ज़र्द कोठी के फ़ाटकों पर भी जलपरियाँ बनी थीं। वो जोड़े आज भी लखनऊ के क़ैसरबाग़ के शाही फ़ाटकों पर मौजूद है। और मछलियों के नाम से बारादरियाँ बनती थीं। यही उनका मोनोग्राम भी था। यह मरमेड्स क्या है कि सात समुन्दरों की मलिका मालूम होती है। उनके सर पर कलगी कुल्लेदार चौगोशिया ताज है। ऊपर का आधा जिस्म जनाना है और बाक़ी जिस्म पर मछली का क़याफ़ा है। आख़िर कुछ भी हो मछली की ज़ात से निजात नहीं मिल सकी।

बात दरअसल ठीक है। जब मछली आपके सफ़र, आपकी कामयाबी और आपकी मंज़िल का बीमा बनी हुई है तो लखनऊ के ख़ालिस बाशिंदे भला उससे क्यूँकर किनाराकशी मजूर करते! क्योंकि यह तो आन की आन में मुश्किल आसान करने का सबसे सस्ता नुस्ख़ा था, और इसके अलावा चारा भी क्या था! सवाल यह था कि जब आप घर से चलें तो कौन मरदूद किस तालाब के किनारे दौड़ा जाये और पहले वहाँ बैठकर झक मारे, फिर आपके हुजूर में आपका शगुन लाकर पेश करे। इसलिए पुराने लोगों ने इन हज़ार झंझटों से बचने के लिए अपने दरवाज़ों पर मछलियाँ तैरा दी थीं।

मछलियों की नस्ल से आपको क्या लेना-देना, पहले आप लखनऊ की मछलियों की हज़ार क़िस्में देखिए। अगर पाताल की जंगी मछली का दीदार करना है, तो हुसैनाबाद तशरीफ़ लाइए और मोहम्मद अली शाह का इमामबाड़ा देखिए। लकड़ी की निहायत ख़ूबसूरत आबनूसी मछली देखनी हो, तो ठाकुर-गज मे बने मिर्ज़ा बेदारबख़्त वाले ताजमहल के फ़ाटक पर ग़ौर फ़रमाइए। अगर मछली की सबसे पुरानी जात से मुलाक़ात करनी हो तो आपको अल्मास के काम का गजद्वार देखना होगा। या फिर मशहूर 'स्टूको वर्क' की बेहतरीन मछलियाँ देखनी हों, तो सिकन्दर बाग़ के सदर दरवाजे पर आइए। अवध के निशाने सल्तनत की मुहर का मर्कज पत्थर पर बनी दो क़दीमी मछलियाँ अब भी आग़ामीर की कोठी नूरबख्श के तहख़ाने में मिल सकती हैं जिसकी नक़ल हुसैनाबाद के ज़िलाख़ाने के पास बनी है। जनाब, एक जमाने में यहाँ पत्थरों पर एक से एक मछलियाँ काटकर रख दी गईं। वैसे ख़ाली चूने-गारे से बनी हुई मछलियाँ तो आपको सारे शहर में लोटती मिलेंगी। जब दुनिया की दौलत ने सोने-चाँदी का घर छोड़कर काग़ज़ की नाव पसन्द कर ली, तो अवध की मछलियाँ भी अपने तमाम पुराने रग-ढंग तज कर काग़ज़ी मछलियाँ बन गईं। नवाबी की राजकीय मुहर में बनी उस एक जोड़ा मछली के निज़ाम में बड़े-बड़े फ़ैसले हुआ करते थे। उन दो मछलियों ने घड़ी में किसी को राजा, तो घड़ी में किसी को रंक बना दिया। किसी को तवायफ़ से मलिका, तो किसी को बेगम से बाँदी बनाकर छोड़ा।

नवाबी लुटी तो फ़िरंगियों का रंग जमा। उन्होंने बड़े-बड़े इन्क़लाब किये। तरह-तरह से पैर जमाये लेकिन उन मछलियों के सदक़े, कि मछली से गोरे भी पीछा न छुड़ा सके।

जब आज़ादी मिल गई तो फिर क्या कहने थे! अयोध्या के तीर-कमान के नीचे, लखनऊ की दोनों मछलियाँ ऐसी सजीं कि राजधानी के कौंसिल चेम्बर के राजमुकुट का नगीना बना दी गईं और फिर तो उन मछलियों का वंश ऐसा फैला कि आज सारे उत्तर प्रदेश का राजकाज उन मछलियों की शिरकत के बिना पूरा नहीं माना जा सकता।

मसनवी और शबीहों का शहर

ताजमहल देखने वालों की निगाह के सामने से मुमताज़महल की दो क़ब्रें गुजरती हैं—एक नीचे तहखाने में, जिसमें मुमताज बीबी के अवशेष बताये जाते हैं, और एक वह जो उसके ठीक एक मंजिल ऊपर बनी हुई है। यह दूसरी क़ब्र असली मजार की मसनवी है। उर्दू भाषा में मसनवी के दो अर्थ हैं—१. प्रबन्ध काव्य और २. किसी इमारत की प्रतिकृति। पहली को उर्दू लिपि में 'से' अक्षर से लिखा जाता है, जबकि दूसरी मसनवी को 'स्वाद' से लिखते हैं। जब यह दूसरी मसनवी किसी पवित्र रौज़े की नक़ल होती है, तो उसे 'शबीह' कहकर पुकारा जाता है।

वास्तव में लखनऊ के उभरने और सँवरने में मुगल और राजपूत स्थापत्य का बहुत कम हाथ रहा। इस शहर का शबाब दो सदियों के बीच अल्मास, लखौड़ी और सुर्ख़ चूने में ढला है और उसमें भारत-सरासीनी (इंडो-सेरासेनिक) शैली का भरपूर इस्तेमाल किया गया है। लखनऊ की चंद इमारतें तो आज भी नवाबी की शान बनी हुई है, लेकिन बहुत सारे भवन यहाँ ऐसे भी हैं, जो मौलिक न होकर मसनवी हैं। पर उनका भी अपना अलग प्रभाव है।

लखनऊ की मसनवियों का सूरज शायद पश्चिम में उगा था, क्योंकि आगरे से लेकर इंग्लैंड तक की न जाने कितनी इमारतों की मसनवियों को लखनऊ ने अपने सीने में समेट लिया है।

इसमें संदेह नही कि लखनऊ में सबसे अच्छी और शानदार इमारतें नवाब आसफ़ुद्दौला के शासन-काल मे बनीं, जिनमें भूलभुलैया वाला इमामबाड़ा और रूमी दरवाज़ा आज संसार के विशिष्ट भवनों में गिने जाते हैं। लेकिन यह कहना ग़लत न होगा कि आसफ़ुद्दौला को भी मसनवी इमारतें बनवाने का शौक़ था और लखनऊ में इस परम्परा की नींव उन्हीं के हाथो पड़ी। रूमी दरवाज़ा, जो लखनऊ

की सिग्नेचर बिल्डिंग है, कुस्तुंतुनिया दरवाज़े (कान्स्टैंटिनोपल गेट) की नक़्ल माना जाता है। इसीलिए लोग उसे कुस्तुंतुनिया फ़ाटक या रोमन दरवाज़ा कहते आये हैं। यह और बात है कि दुनिया के नक़्शे पर से इसका मूल नमूना सदियों पहले साफ़ किया जा चुका है और अब यह अपने ढंग का अकेला दरवाज़ा है।

अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समय तक लखनऊ में गोमती नदी पर कोई पुल नहीं था। फ़ौज का लश्कर उतारने के लिए दरिया पर हाथियों से पुल बाँध लिया जाता था। यहाँ पहला पुल नवाब आसफ़ुद्दौला ने क़िला मच्छी भवन (वर्तमान लखनऊ में मैडिकल कालेज का स्थान) के पीछे बनवाया था। मज़े की बात यह है कि वह शाही पुल पेरिस की सीन नदी पर बने हुए एक पुल की हूबहू नक़ल था और एक फ्रांसीसी इंजीनियर के निर्देशन में बना था। आसफ़ुद्दौला के मरने के बाद उनकी विधवा बेगम शम्सुन्निसा की जागीर और आमदनी में इस पुल की उतराई का टोल-टैक्स भी शामिल था। सन् सत्तावन के ग़द्र में जब यह पुल कमज़ोर हो गया तो ब्रिटिश सरकार ने इसे तोड़कर कुछ दूर पर नया हार्डिग्ज़ ब्रिज बनवाया।

नवाब आसफ़ुद्दौला की तो यह भी अभिलाषा थी कि कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम की एक कापी लखनऊ में बनवा लें, लेकिन कम्पनी की सरकार ने उन्हें इसकी अनुमति नहीं दी। नवाब ने लखनऊ को शहरी जामा पहनाते वक़्त अपने बाप की राजधानी फ़ैज़ाबाद के रकाबगंज, सआदतगंज, दौलतगज, मुसाहिबगंज जैसे नामी मुहल्ले लखनऊ में बसाये थे और वे वहीं से चौक, नख़ास जैसे बाजारों की बुनियादें उठाकर लाये थे।

नवाब नसीरुद्दीन हैदर ने सन् १८२७ से १८३७ तक दस वर्ष लखनऊ के तख़्त पर राज्य किया। उन्होंने फ़ारस के प्रसिद्ध 'बाग़े इरम' (जिसे शद्दाद का स्वर्ग कहा जाता था) की नक़ल पर छतरमंज़िल के पास 'गुलिस्ताने इरम' बनवाया। इस मसनवी का तक़ाज़ा यह रहा कि जैसे बादशाह शद्दाद अपने बाग़े इरम की चौखट पर परलोकगामी हुआ था, नसीरुद्दीन हैदर भी अपनी कोठी गुलिस्ताने इरम के तहख़ाने में मरे थे।

नसीरुद्दीन हैदर ने ही गोमती नदी पर लोहे का पुल बनवाने के लिए एक आर्डर इंग्लैंड भेजा, मगर पुल का सामान उनकी ज़िन्दगी में यहाँ तक नहीं पहुँचा और ढले हुए लोहे के वे तीनों कमान जब तक लखनऊ आये, हुकूमत बदल चुकी थी। बादशाह मुहम्मद अली शाह ने मि० सिक्लेयर नाम के एक फ्रांसीसी इंजीनियर की निगरानी में गोमती नदी पर उस पुल को जुड़वाया जो 'आयरन ब्रिज' के नाम से मशहूर हुआ। लखनऊ का यह लोहे का पुल था तो इंग्लैंड के लिंकनशायर नगर में बोस्टन के पुल की कार्बन कॉपी, लेकिन हिन्दुस्तान मे अपने ढंग का पहला पुल था।

मुहम्मद अली शाह ने अपने राज्यकाल में कई ख़ूबसूरत इमारतों का एक बहिश्त बनवाया और उसे 'हुसैनाबाद' कहा। उनका बनवाया छोटा इमामबाड़ा आज भी लखनऊ के सुदर्शन प्रासादों में से है। इसी भव्य भवन में उनकी समाधि भी है। आश्चर्य की बात यह कि उन्होंने अपने इस सुप्रसिद्ध निर्माण का स्थापत्य पुराने लखनऊ से ही चुराया था। नवाब सआदत अली ख़ां की बनवायी हुई रुस्तम नगर वाली दरगाह 'हज़रत अब्बास' का सदर फ़ाटक हुसैनाबाद में दो जगह दुहराया गया है और जैसे उसी रौजे का कमरखीदार तलाई (सुनहरा) गुंबद छोटे इमामबाड़े पर लाकर रख दिया गया है। पुराने लखनऊ के तहबन्द इलाक़े का वह रौज़ा तो किसी-किसी की ही नज़र से गुजरता है जबकि इस रोशनीमहल को देखने दुनिया-भर के पर्यटक आते रहते है। बहुत कम लोग जानते हैं कि इस छोटे इमामबाड़े की एक मसनवी इराक़ के कर्बला शहर में भी है, जिसे अवध की बेगम ने अपने पैसे से बनवाया था।

आगरे का ताजमहल सारे संसार में अपने भव्य स्थापत्य और स्फटिक सौंदर्य का अकेला नमूना माना जाता है। औरंगाबाद (दक्खन) में औरंगजेब का बनवाया हुआ 'बीबी का मक़बरा' उसी की थोडी बहुत भद्दी नक़ल कहा जाता है लेकिन लखनऊ के हुसैनाबाद में भी ताजमहल की एक मसनवी मौजूद है। रुपहली चाँदनी जैसी सफ़ेद चूने की चादर लपेटकर एक नहर के किनारे चार मीनारों के बीच ऊँचे चबूतरे पर स्थित यह मक़बरा अवध के तीसरे बादशाह मुहम्मद अली शाह ने अपनी प्यारी बेटी जनाब असिया के लिए बनवाया था। शहजादी के मक़बरे की भीतरी मेहराबों पर ताजमहल की याद ताजा कराने वाली डिजाइनों में क़ुरान की आयतें भी बड़ी ख़ूबसूरती से लिखी गयी है। इसी रौज़े में दीवारों पर 'इन्ले वर्क' के (जड़ाऊ काम) की नक़ल के रंगीन बेल-बूटे भी बने हुए है। यही नहीं, दरो-दीवार के प्लास्टर में चिकनाहट से पत्थर का प्रभाव पैदा किया गया है। फ़र्श पर घटिया क़िस्म के सगमरमर की शतरंजी बिछी है, जिसके बीच में शिया विश्वास के अनुसार शहज़ादी की क़ब्र का केवल क्षेत्र अंकित है, कोई उठा हुआ मज़ार नहीं है।

वैसे तो नवाब सआदत अली ख़ां के समय से ही लखनऊ की इंडो-सेरासेनिक वास्तुकला में फ्रांसीसी और इतालवी प्रभाव शामिल हो चुका था। ग़ज़ब तो तब हुआ, जब मुहम्मद अली शाह के वक़्त में गेंदख़ाने (नवाबी के स्टैडियम) के साथ सतखंडा पैलेस बनवाया जाने लगा और उसमें पीसा (इटली) की सुप्रसिद्ध बाँकी मीनार की झलक दी जाने लगी। इसी मीनारी महल की चौड़ाई और मंज़िलों की ऊँचाइयाँ सब पीसा की मीनार से मेल खाती हैं, बस मेहराबों की डिज़ाइनों में अंतर है। इसकी एक ख़ूबी यह भी है कि इसकी हर मंजिल पर कोण बदल गये है और मेहराबों की बनावट भी बदल दी गयी है। हाँ, इतना ज़रूर है कि

लखनऊ की यह मीनार सीधी उठायी जा रही थी, जबकि इटली की मीनार कुछ बाँकी है। बादशाह चाहते थे कि इस ऊँचे भवन की छत से लखनऊ की शाही इमारतों के वे झुंड के झुंड देखे जा सकें—जो उस ज़माने में बेबिलोन को मात करते थे। हुसैनाबाद के जगमगाते पीतल के तमाम गुंबदों और लहलहाते शिखरों को देखकर ही विदेशी सैलानी उसे लखनऊ का लेनिनग्राद लिख गये है।

मुहम्मद अली शाह के समय में सतखडी मीनार की सिर्फ़ चार मंज़िलें बन सकी थी। उनकी मृत्यु के बाद उनकी विधवा मलिकाजहाँ ने एक आलीशान जामा मस्जिद तो बनवा दी, मगर इस अधूरे भवन में हाथ नहीं लगाया, क्योंकि नवाबी का दस्तूर था कि जिस इमारत को बनवाने वाला बीच ही में जन्नतनशीन हो जाता था, उसे मनहूस क़रार देकर ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाता था।

लखनऊ एक लबे अरसे तक अवध सूबे की राजधानी रहा है। यहाँ नवाबों और बादशाहों की जितनी पीढ़ियाँ गुजरी हैं, वे नस्ल से ईरानी थीं। इमामिया मजहब पर कर्बलाओं और इमामबाड़ों के साथ-साथ अपने इमामों के रौज़ों की शबीहें (पवित्र अनुकृतियाँ) लखनऊ में बनवा डाली। इन सब शबीहों मे सबसे विशाल है कर्बला के मैदान में शहीद होने वाले हज़रत इमाम हुसैन के रौज़े की शबीह। इसे आम बोलचाल की भाषा में 'कर्बला' ही कहा जाता है। क्योंकि दशरे (मुहर्रम की दसवीं तारीख़) को ताजिये कर्बला के मैदान में ही ले जाकर दफ़न किये जाते हैं। कर्बलाओं की इमारत में न सिर्फ़ हजरत इमाम हुसैन के पवित्र रौज़े की चाँदी, चंदन, हाथीदाँत आदि की शबीह रहती है बल्कि रौज़े की पूरी की पूरी इमारत का स्थापत्य ही अपना लिया जाता है, इसीलिए लखनऊ में खड़े होकर तो मेसो-पोटामिया का भ्रम होने लगता है।

लखनऊ में किसी जमाने मे बावन कर्बलाएँ थीं, जिनमें से बीस-बाईस अब भी बाकी हैं। बादशाह गाजीउद्दीन हैदर की पटरानी बादशाह बेगम के तो अपने बारहों शबीहें और अलम पटे पड़े थे। और तो और, हिन्दू मंदिरों की देवदासी प्रथा की तर्ज़ पर उन्होंने इन इमामों की ख़िदमत में बारह अछूतियाँ (कुमारी कन्याएँ) भी नियुक्त की थीं। वह दरगाह अब लखनऊ में नहीं है, सिर्फ़ उसके चर्चे बाक़ी रह गये हैं। शहर लखनऊ में लालकटोरा की कर्बला सबसे पुरानी और प्रसिद्ध मानी जाती है। नवाब सआदत अली ख़ां की बनवायी इस कर्बला के साथ यह किंवदती जुडी है कि इस स्थान और इसके नक़्शे का निर्देश नवाब को ख़्वाब में मिला था और जब निर्माण-कार्य पूरा हुआ तो इस ज़ियारतगाह और इराक के उस रौजे इमामी में अनायास ही अद्‌भुत साम्य पाया गया। इसके बाद ही सआदत अली ख़ां के द्वारा ही हज़रत हुसैन के अलमबरदार और छोटे भाई हज़रत अब्बास के रौज़े की शबीह पर दरगाह हज़रत अब्बास बनवायी गयी।

दयानतुद्दौला की कर्बला भी अपने शीराजी काम और बेमिसाल नक़्शनिगारी

के लिए बहुत मशहूर है। नूरबाड़ी में स्थित सुनहरे सीरियन गुंबद और बग़दादी मीनारों का जोड़ा लिए यह लाल कर्बला अवध के अंतिम शासक वाजिद अली शाह के शासन-काल मे उनके एक प्रिय दरबारी ख्वाजासरा के द्वारा बनवायी गयी थी। इस कर्बला की इमारती सजावट मे ईरानी बेलबूटो और दमिश्क की प्रसिद्ध शीशागरी की झलक देखने को मिलती है। इसी तरह काकोरी रोड पर खड़ी रफ़ीकुद्दौला की कर्बला मे बेहतरीन गुलकारी की गयी है। यहाँ सबसे निराली है इरादतनगर मे स्थित सीधी-सादी सपाट कर्बला, जो दमिश्क की कोई इमारत मालूम होती है। इसी के साये मे बादशाह नसीरुद्दीन हैदर और उनकी महबूबा क़ुदसियामहल के मजार भी है।

अवध के तीसरे बादशाह मुहम्मद अली शाह की बेवा बेगम मलिकाजहाँ ने लखनऊ के ऐशबाग मे इमाम हसन और हजरत अब्बास अली के रौजो की नकल पर 'बडे हजरत' और 'छोटे हजरत' नाम की दो कर्बलाएँ बनवायी। इसी तरह पैग़ंबर इमाम हुसैन की माँ हजरत फ़ातिमा के रौजे की शबीह यहाँ कश्मीरी मुहल्ले के पास 'फ़ातमैन' नाम से है और इमाम हुसैन साहब की बहन हजरत ज़ैनब के रौजे की शबीह 'जैनोबिया' मेंहदीगज मुहल्ले में है।

शाहनजफ़ लखनऊ की अत्यन्त आकर्षक इमारतो मे से एक है, जिसे अवध के शहंशाहे अव्वल गाजीउद्दीन हैदर ने तामीर किया था। इमामिया सप्रदाय मे इराक़ की नजफ़ पहाडी पर बने हुए हजरत अली के रौजे का बडा महत्त्व है। अभी तक धर्मनिष्ठ और समर्थ शीआ लोग मारे ससार से अपने अस्थि-अवशेषों को नजफ़ के क़ब्रिस्तान में दफ़नाने की वसीयत करते आये है। पर ग़ाजीउद्दीन को लखनऊ इस क़दर अजीज था कि उन्होंने नजफ़ जाने के बजाय नजफतीर्थ को ही लखनऊ के पैमाने मे उतार लिया और उसी में दफ्न हो गये।

लखनऊ में जितनी शबीहे बनी है, उनमें स्थापत्य की दृष्टि से सबसे अधिक प्रभावशाली शबीह रौजा काजमैन है। मसूर नगर मे बनी हुई इस आलीशान इमारत को नवाब वाजिद अली शाह के वक्त मे एक नौमुस्लिम रईस शरफ़ुद्दौला ने बनवाया था। काजमैन का रौजा ईरान के मशहद शहर मे बने हुए सातवें और आठवें भव्य इमामों के रौजे की हूबहू नकल है। इस भव्य भवन मे ख़ुरासान के उन दोनों इमाम—हजरत मूसा काजिम और इमाम हजरत अली रजा—के मज़ारों की शबीहें बनी हुई है। इसी रौजे की दहलीज मे शरफुद्दौला और उनकी बीवी शरफ़ुन्निसा बेगम की क़ब्रे भी है।

काजमैन के विशाल भवन पर मनों पीतल की चादर से मढी हुई दो बडी-बड़ी तेहरानी मीनारे खडी है। खजूर के पेडों से घिरी इस इमारत को देखने वाला मानसिक रूप से घड़ी भर के लिए हिंदुस्तान की सरहदों से बहुत दूर निकल जाता है। काज़मैन के मैदान क़त्लगाह मे हुसैनाबाद की मशहूर जरी (हजरत

हुसैन के प्राचीन रौज़े की काग़ज़ी अनुकृति) दफ़न की जाती है। यहीं पर इराक़ के कूफ़ा शहर की प्रसिद्ध मस्जिद की नक़ल बनी हुई है। काज़मैन से कुछ ही दूर 'ख़ाके पाक' की मस्जिद कर्बला से लायी गयी मिट्टी से बनवायी गयी है। वह पवित्र मिट्टी एक मुद्दत तक ऊँटों की पीठों पर और बादबानी जहाज़ों में लादकर इराक से लखनऊ लायी जाती रही थी।

लखनऊ की इन शबीहों की क़तार मे सबसे आख़िरी शबीह राजा टिकैत राय के बाजार में स्थित 'जन्नत उल बकी' है। यह पवित्र मुस्लिम इबादतख़ाना मदीना में बनी हुई 'मस्जिदे नब्वी' की मसनवी है। इसे लखनऊ वाले 'नब्बे दर की मस्जिद' भी कहते है, क्योंकि इसमें पत्थर की एक जैसी नब्बे मेहराबें खड़ी हैं। अरब की उस सुप्रसिद्ध मस्जिद की तरह यहाँ भी पाँचों वक़्त की अज़ानों के लिए पाँच मीनारें है और एक किनारे पर वैसा ही अकेला गुंबद है। इस छोटी-सी मस्जिद के दरो-दीवार और ताक़-ओ-दरीचों का कुल नक़्शा उस मस्जिद से नक़ल किया गया है, जिसमें हजरत मुहम्मद साहब नमाज़ अदा करते थे। इसके साथ ही पाँच मासूमों के मज़ारों की शबीह भी बनी हुई है।

एक जमाने में लखनऊ की इन मसनवियों और शबीहों का निर्माण इस सीमा तक लोकप्रिय हो चला था कि हिंदुओं ने भी इस ढंग को अपनाना प्रारंभ कर दिया था। इसका एक प्रामाणिक नमूना है यहाँ के रानी कटरा मुहल्ले का 'चारों धाम का मदिर' जिसमें भारत के चार कोनों में स्थित चारों धामों के श्रीविग्रहों की अनुकृतियों का दर्शन होता है।

आज भी हिंदुस्तान के तमाम शहरों की भीड़ में लखनऊ का एक अलग ही रंग-ओ-रुतबा है, जिसके साथ ऐसी अजीबोगरीब बातों का सिलसिला शायद हमेशा जुड़ा रहेगा।

लखनऊ की बारादरियाँ

लखनऊ की निराली संस्कृति ने काल के गतिपथ पर अपने अनुपम पदचिह्न छोड़े हैं। पद्य हो या गद्य, महफ़िल हो या मजलिस, नृत्य हो या संगीत, दस्तकारी हो या ललितकला—सबको लखनऊ से सहायता मिली है। इन सबके अलावा कुछ प्रथाएँ तो शुद्ध रूप से इसी शहर के हाथों ईजाद हुई हैं, उन्हीं में 'बारादरी' कही जाने वाली एक ख़ास क़िस्म की इमारत भी है।

हिन्दुस्तान में पुराने हिन्दू रिवाज में बाग़ के बीच मरकत मंडप बना करते थे, राजस्थान में फिर वे छतरियों के नाम से बनाए जाने लगे। मुग़लों के वक़्त में दिल्ली और आगरे में दीवाने ख़ास, दीवाने आम जैसी इमारतें अस्तित्व में आने लगीं, मगर अब तक इतिहास में बारादरी का नाम शामिल नहीं था।

अवध के नवाब नस्ल से ईरानी थे और इमामिया मज़हब के अनुयायी थे। इन शीआ शासकों की शांतिप्रियता और हिन्दू मज़हब के प्रति आदर भाव ने अवध को नंदन वन बना दिया था। हिन्दू सभ्यता और ईरानी तहज़ीब को लेकर आगे बढ़ने वाली इस हुकूमत में एक दुर्लभ गंगा-जमुनी कल्चर तैयार हो गया था।

फ़ैजाबाद से इस तरह की अनोखी इमारतों का सिलसिला शुरू हुआ, और लखनऊ में आकर फला-फूला, नवाब आसफ़ुद्दौला को इमारतें बनवाने और बाग़ लगवाने का बहुत शौक़ था, और यह रुचि आख़िरी ताजदार वाजिद अली शाह तक लखनऊ में क़ायम रही। इस तरह यह बेहतरीन बाग़ों और सुंदर महलों का स्वर्ग बन गया।

इन बाग़ों में बैठने-उठने के लिए और जश्नो महफ़िल की ग़रज़ से एक हवादार खुली इमारत की कल्पना की गयी। चार पहल की एक इमारत बाग़ के बीचो-बीच या आख़िरी पुश्त पर बनवायी जाने लगी। इस एकमंज़िले मकान के चारों पार्श्वों पर तीन-तीन मेहराबें दी जाने लगीं और इस बारह दर के महल को

'बारादरी' कहा जाने लगा। बारादरी के बारह दरवाज़े शीआ मज़हब के बारह इमामों की बरकत हासिल करने की ग़रज से रखे गये। मशहूर है कि बादशाह नसीरुद्दीन हैदर ने 'शेर दरवाज़े' के पास बारह इमामों की दरगाह बनवायी थी जो ग़द्र की आँधी मे तबाह हो चुकी है।

अवध के पुराने हाकिम सूर्यवंशी राजा थे, जो सूर्य को अपना कुलदेवता मानते थे। सूर्य बारह राशियों में से होकर गुज़रता है। इस तरह बारह की संख्या दोनों धर्मों में शुभ मानी जाती थी। इसीलिए बारादरी जनता की भावनाओ का केन्द्र बन गयी और बाद में तो मंदिर, मस्जिद, बाग़ और वन—सभी जगह बारादरियाँ बनवायी जाने लगीं।

बारादरी की बनावट की विशेषता यह हुआ करती है कि इसमे धूप या बरसात से बचते हुए भी चमन की हवाओं का मजा मिलता है। दूसरे, एक ही जगह बैठने वाले को बाग़ के हर पहलू का दृश्य दखने को मिल जाता है। ये बारादरियाँ लखौड़ी ईटों व चूने से बनती थी। कही-कही ये लाल या सफ़ेद पत्थर से भी बनवायी गयीं। इनमें ख़ास लखनऊ शैली की चाँदनुमा या शाह-जहानी मेहराबें बनती थीं। बाद में अंग्रेजो के असर से फ्रेंच या इटालियन मेह-राबें भी बनायी जाने लगी। इनकी सजावट में बड़े ख़ूबसूरत बेल-बूटे भी बनवाये जाते थे। कभी-कभी उन पर सोने का पानी या चाँदी की चादर भी चढ़ा दी जाती थी। पत्थर की बारादरियों में 'इन्ले वर्क' (जड़ाऊ काम) से रंगीन पत्थर सजाए जाते थे।

बारादरी में आम तौर से बारह दर बनते थे और बाद में चौबीस या छत्तीस भी बनाए जाने लगे। फिर यह मुमकिन हुआ कि इमारत बिलकुल चौकोर न होकर आयताकार हो। दरों की गिनती चाहे जितनी भी हो मगर नाम से इन्हे आज तक बारादरी ही कहा जाता है। इस तरह बाद में इनसे मिलती-जुलती जो इमारत जंगल या बाग़ के बीच में मिलती थी, लोग उसे बारादरी ही कहते थे। ये आरामगाहें लखनऊ और उसके इर्द-गिर्द सैकड़ों की तादाद में थीं, जिनमें अब भी बहुत-सी बाक़ी है।

नवाब आसफ़ुद्दौला ने लखनऊ में बहुत-सी बारादरियाँ बनवायी जिनमें ऐशबाग़, चारबाग़ और वज़ीर बाग़ की बारादरियाँ मशहूर थी। राजा टिकैत-राय के निशात बाग़ की बारादरी और शीशमहल की बारादरी भी इसी ज़माने में बनी थीं। मगर अब उनमे से किसी का नामोनिशान भी बाक़ी नहीं है। सिर्फ़ गोमती के किनारे मूसाबाग़ मे जो बारादरी फ्रांसीसी इंजीनियर मोसियो मार्टिन के नक़्शे पर बनवायी गयी थी वही खँडहर की हालत में रह गयी है। यह लखनऊ की ऐतिहासिक बारादरी थी जो ऐशो-निशात की महफ़िलें सजाने के बाद स्वातंत्र्य संग्राम का महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गयी थीं, ग़द्र के ज़माने में बेग़म हज़रत-

महल हाथी पर सवार होकर अंग्रेजों से मोर्चा लेने के लिए मूसाबाग़ आयी थी। आज भी मूसाबाग़ की दरो-दीवार उस वारदात की गवाही देती है।

आसफ़ुद्दौला की बनवायी हुई बारादरियों के खँडहर चनहट, बन्थरा, कस-मंडी और मलिहाबाद में मिलते है। दूर पहाड़ी की तराई में बुटवल के पास नयी कोट मे उन्होंने एक बारादरी बनवायी थी, जहाँ वो अपनी माँ बहू बेगम को लेकर गरमी के मौसम में सैर-शिकार के लिए जाया करते थे। बेगम हज़रतमहल अवध छोड़कर नेपाल जाते वक़्त इसी बारादरी में बिरजीसकद्र को लेकर रही थीं।

नवाब सआदत अली ख़ां ने लखनऊ की मशहूर लाल बारादरी बनवायी, जिसे उस ज़माने मे 'कस्र उल सुल्तान' कहा जाता था। बाद में अवध के बाद-शाहों की ताजपोशी और दरबार इसी में होता था। इस ख़ूबसूरत इमारत में बादशाह ग़ाजीउद्दीन हैदर की ऐतिहासिक गद्दीनशीनी हुई। इसी बारादरी में बादशाह नसीरुद्दीन हैदर की ताजपोशी की सालगिरह पर फैनीपार्क्स नाम की मशहूर यूरोपियन सैलानी महिला ने बेगमों से मुलाक़ात की थी और उनमें ताज-महल के सौंदर्य पर क़ुर्बान होकर रह गयी थी। लाल बारादरी मे ही ग़ाज़ीउद्दीन हैदर की विधवा बादशाह बेगम ने अपने नाबालिग पोते मुन्नाजान की ताजपोशी की नाकाम कोशिशें की थीं और फ़िरंगी सरकार को चुनौती दी थी। अंग्रेजी ने इसमें पब्लिक लायब्रेरी क़ायम कर दी थी। बहुत दिनों तक यहाँ संग्रहालय रहा और अब ललित कला अकादमी का प्रदर्शनगृह है।

नवाब सआदत अली ख़ां ने ही चाँदी वाली बारादरी बनवायी थी, जिसे मनों चाँदी का लिबास पहनाया गया था। वाजिद अली शाह के ज़माने में यह क़ैसरबाग़ के इलाक़े में जोड़ दी गयी थी। यहाँ जोगियाना मेले मे बहारों का हुजूम होता था। इसी ऐतिहासिक भवन में बेग़म हज़रतमहल के साहबज़ादे बिरजीसक़द्र की ताजपोशी हुई थी और अवध के जांनिसारों का मुबारक दरबार हुआ था। जिसमें कुँवर जियालाल सिंह, मम्मू ख़ां और शरफ़ुद्दौला को विजारत सौंपी गयी थी, बाद मे अंग्रेज़ सरकार ने इनमें से एक को प्राणदण्ड, दूसरे को कालापानी दे दिया था। शरफ़ुद्दौला क़त्ल कर दिये गये थे। इस बारादरी की चाँदी ग़द्र में लुट गयी और बाद में उसे बदलकर अंग्रेज़ों ने अमेरिकन लायब्रेरी खोल दी। अब इसमें कचहरी का बोलबाला है।

सआदत अली ख़ां ने ही मोती झील की बारादरी, दिलकुशा की बारादरी, कोठी नूरबख़्श की बारादरी और मुहम्मदी (ज़िला लखीमपुर) की बारादरी बनवायी। बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने दिलाराम की बारादरी, मोतीमहल की बारादरी और विलायती बाग़ की बारादरी बनवायी थीं। जिनमें अब कोई बाक़ी नहीं है, सिर्फ़ कुछ खँडहर हैं। उनके बेटे नसीरुद्दीन हैदर ने बादशाह बाग़ में लाल

पत्थर और ईट-चूने से एक शानदार बारादरी बनवायी, जिसके आगे नहर भी है, कम्पनी सरकार की हुकूमत के दौरान इसे कपूरथला के राजा को दे दिया गया और बाद मे यहाँ कैनिंग कालेज आ गया और अब यह लखनऊ यूनिवर्सिटी के शिकजे में है। पुराने लखनऊ में कभी एक दिलाराम की बारादरी हुआ करती थी जो उस जमाने का आडिटोरियम कही जा सकती है क्योंकि उसमें सांस्कृतिक कार्यक्रम होते थे। शाहे अवध वाजिद अली ने क़ैसरबाग़ के नज़दीक वाली नसी-रुद्दीन हैदर की बनवायी हुई नगीने वाली बारादरी में रास और कत्थक के जश्न करते थे। उनके फ़रजद बिरजीसक़द्र इसी इमारत में पैदा हुए थे। ग़द्र में चोट खा जाने के बाद इस बारादरी को बनारसी बाग़ मे ले जाकर सावन-भादों महल की जगह जोड़ दिया गया। इसमें ख़ूबसूरत और क़ीमती पत्थरों की जगह रंगीन मसाला भर दिया गया फिर भी लखनऊ में दोहरे दर की चौबीस दरों वाली यही बारादरी अपने ख़ालिस रंग-ढंग से शोभा दे रही है।

अवध के बादशाह मुहम्मद अली शाह ने हुसैनाबाद तालाब के किनारे एक बारादरी बनवायी थी। इस बारादरी को अंग्रेजों ने नयी रूपरेखा देकर 'पिक्चर गैलरी' में बदल दिया था। जहाँ अब लाला भोलानाथ की धर्मशाला है वहाँ कभी वाजिद अली शाह की प्रिय मछली वाली बारादरी थी। सिकंदरबाग़ की बारादरी सिकंदरमहल बेगम के लिए बनवायी गयी थी, जिस पर से आउटरम रोड निकाल दी गयी। क़ैसरबाग़ में लाल पत्थर की एक आलीशान बारादरी बनवायी गयी, जो दरअसल वाजिद अली शाह की गतिविधियों का केन्द्र थी। कस्र उल बुका (शोक का घर) था अर्थात् यहाँ मुहर्रम के ज़माने में मातम होता था।

वाजिद अली के कलकत्ता चले जाने के बाद इसी के तहख़ाने में बेगम हज़रतमहल ने अपनी फ़ौज के लिए रसद इकट्ठी की थी। बाद में ब्रिटिश हुकूमत ने इसको सफ़ेद रंग में रँग दिया, जिससे यह 'सफ़ेद बारादरी' के नाम से मशहूर हो गयी। अब यह टाउनहाल की सूरत में बाक़ी है।

लखनऊ की कहानी
कैसरबाग़ की ज़बानी

मैं बारादरी हूँ···जी हाँ, लोग मुझे बारदारी कहते हैं। अवध का केन्द्रबिन्दु लखनऊ है, लखनऊ की रूह क़ैसरबाग़ है और क़ैसरबाग़ का मरकज़ मैं···सफ़ेद बारादरी हूँ···

बारह दरों वाला मैं वह महल हूँ जो सूरज की बारह राशियों की तरह लखनऊ का कालचक्र बन गया। मैं बारह घण्टों वाली वह घड़ी हूँ जिसने समय को क़ैद कर लिया है और मेरे बारह दरवाज़ों पर बारह इमामों की आज बरकत भी बरसती है।

मेरी उम्र बहुत नहीं। मैंने सिर्फ़ दो सदियाँ देखी है। मगर उस मिट्टी ने, जिसके सीने पर अंकुर बनकर मैंने जनम लिया है, एक ज़माना देखा है। लखनऊ के बनने-बिगड़ने की दास्तान सुनी है! इस बहिश्त के बसने, उजड़ने और फिर सँवरने की कहानी मुझे आज भी याद है।

जहाँ तक मेरी आँखें मुड़कर पीछे देख सकती हैं वहाँ तक का इतिहास आज भी मेरी नज़र में है। सूर्यवंशी महाराज दशरथ अयोध्यापति के कोशल प्रदेश का यह पश्चिमी दुर्गद्वार था। राम की राजधानी के रखवाले-प्रहरी लक्ष्मण के दुर्गम कोट के चरण-चिह्न आज भी गोमती के किनारे मिलते हैं। लक्ष्मण टीला इस जनपद का प्राण रहा है जहाँ कभी शेषतीर्थ था। एक दिन वह भी था कि नैमिषारण्य से नगराम तक ऋषियों के तपोवन थे। गोमती के उस पार का इलाक़ा, जहाँ कभी मांडव्य ऋषि का आश्रम था, आज मड़ियाँव कहा जाता है। प्रसिद्ध नागयज्ञ करने वाले जनमेजय जोगी को जो भू-भाग दान में दिया था वही जहाँ जुग्गौर कहा जाता है। बारी-बारी से यहाँ राजपूतों, भार-

शिवों तथा रजपासियों का आधिपत्य रहा।

समय ने करवटें लीं, लखनावती में ब्राह्मण कायस्थों की बस्तियाँ बस गयीं। नगराम में भूरों का राज हो गया। १२ क़िलों का मालिक राजा बिग्घी बिजनौर का अधिकारी बना। कठवारे में कुरमी क्षत्रियों का बोलबाला हो गया तो महोने में मुराउवों का राज हो गया। काकोरगढ़ और मलिहाबाद में पासी राजाओं की तूती बोलने लगी।

अब तक हिन्दुस्तान में यवनों के क़दम पड़ चुके थे। लखनावती में रामनगर के पठान आकर बसने लगे थे। इन शेख़ज़ादों ने ही लखनावती को लखनऊ बना दिया। इनकी हरी नीमों वाली जागीर आज की रेजीडेंसी से मच्छीभवन क़िले के बीच की दूरी में फैली हुई थी। वक़्त बदलता रहा, १५वीं सदी में जौनपुर के शर्क़ी बादशाहों ने लखनऊ पर अधिकर कर लिया। फिर सन् १४७८ में इस इलाक़े को कालपी के साथ जोड़ दिया गया। १६वीं सदी के प्रारम्भ मे ही मुग़लों ने इसे अपने कब्ज़े में कर लिया। अब अवध एक सूबे का नाम था। दिल्ली वालों की निगाहें इस तरफ़ लगी रहती थीं। शेरशाह शूरी गद्दी पर बैठा तो उसने ताँबे के सिक्कों की एक टकसाल यहाँ क़ायम कर दी। बादशाह अकबर ने लखनऊ में तमाम मुहल्लों को आबाद कर दिया। यहाँ अकबरी दरवाज़ा बन गया। मुग़ले-आज़म अकबर ने ही एक लाख रुपये दान में देकर यहाँ बाजपेइयों से वह इतिहास-प्रसिद्ध यज्ञ करवाया कि 'लखनऊ के बाजपेई' नाम से एक अलग मशहूरियत हासिल कर ली। यहाँ शहज़ादा सलीम अपनी नौजवानी में सैरे अवध के वास्ते आये थे और मिर्ज़ा मेड़ी बसा गये थे।

सत्रहवीं शताब्दी थी, शाहजहाँ ने तख़्तनशीन होते ही सुलतान अली शाह क़ुली ख़ां को यहाँ का सूबेदार बनाकर भेजा। औरंगज़ेब जब अयोध्या विध्वंस करके लौटा तो उसने लक्ष्मण टीले के तीर्थ को नष्ट करवा दिया और एक मस्जिद बनवा दी, जहाँ आज अलविदा की बड़ी नमाज़ पढ़ी जाती है। और फिर शहर से जाते-जाते आलमगीर ने नगर के नाके पर आलमनगर की नींव डाल दी।

अठारहवीं सदी के आरम्भ में दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह ने गिरधर नागा को अवध का सूबेदार बनाकर भेज दिया। उसकी रानी ने रानी कटरा मुहल्ला आबाद किया जहाँ पुराने हिन्दू मन्दिरों की भरमार है। इसके बाद नैशापुर (ईरान) से आने वाले एक बहादुर सिपहसालार को दिल्ली दरबार की तरफ़ से अवध का वज़ीर बनाकर यहाँ भेज दिया गया। इसका नाम सआदत खां बुरहानुलमुल्क था। इन्होंने शेख़ों के रुतबे को दबा दिया और लखनऊ में पाँव जमा लिये। सआदत ख़ां के घर में बेटियाँ ही बेटियाँ थीं, बेटा नहीं हुआ था इसलिए विज़ारत का ओहदा उनके बाद उनके दामाद अबुल मंसूर ख़ां उर्फ़ सफ़दरजंग को मिला। उसने ही नवाबी का पहला नाम अपने नाम से जोड़ा। मगर इस

बेमुरव्वत ने लखनऊ से कोई नाता नहीं रखा। दिल्ली उन्हें प्यारी थी, और आख़िरी दम तक प्यारी रही।

अठारहवीं सदी के मँझधार में नवाब शुजाउद्दौला अपने बाप के फ़रज़न्द बनकर मसनदनशीन हुए थे। लक्ष्मण की नगरी से उन्हें राम की अयोध्या ज़्यादा पसंद आई और फ़ैज़ाबाद को उन्होंने ऐसा सँवारा कि आज तक निशाने वक़्त वहाँ बाक़ी हैं।

सन् १७७५ में जब शुजाउद्दौला की सल्तनत उनके दुलारे बेटे आसफ़ुद्दौला के हाथ लगी तो लखनऊ शहर का मुक़द्दर करवटें लेकर जाग उठा। आसफ़ुद्दौला का अपनी माँ बहू बेगम से रूठना और फ़ैज़ाबाद का छूटना लखनऊ के हक़ में वरदान साबित हुआ। नये नवाब ने लखनऊ को वह रौनक़ दी कि निज़ाम हैदराबाद का दबदबा मात हो गया। आसफ़ुद्दौला की दरियादिली छन्द बनकर बिखर चली—

जिसको न दे मौला—
उसको दे आसफ़ुद्दौला!

मच्छीभवन, पंचमहल और मुबारक मंजिल के इर्द-गिर्द भूलभुलैया, इमामबाड़ा, रूमी दरवाज़ा जैसी शानदार इमारतें सिर उठाने लगीं, दौलतख़ाने और शीशमहल की बुनियादें पड़ने लगीं। जगह-जगह बाग़ लगने लगे। बारादरियाँ बनने लगीं। हिन्दू-मुसलमानों ने मिल-जुलकर होली और मुहर्रम मनाना सीखा और इस क़ौमी एकता पर यहाँ के नवाब निछावर होते रहते थे। उधर अंग्रेजों से पुरतकल्लुफ़ तअल्लुक़ क़ायम होने लगे और रेजीडेंसी रेज़ीडेंटों से आबाद हो गयी। अपने बेटे वज़ीर अली की शादी में आसफ़ुद्दौला ने ३० लाख रुपये उड़ाकर जो जश्नो-तमाशा पैदा किया वह तवारीख़ में मिसाल बनकर रह गया।

दिल्ली उजड़ रही थी और लखनऊ बस रहा था। मीर तक़ी 'मीर', सौदा और सोज़ जैसे शायर यहाँ आकर यहाँ की तहज़ीब के क़सीदे पढ़ने लगे थे। यह वक़्त लखनऊ के सुनहरे निर्माण का वक़्त था।

वज़ीर अली अभागा तो ज़रूर था मगर सारे नवाबों में सबसे पानीदार जवांमर्द था। जब उसकी बारी आई, अंग्रेज़ों की शतरंजी चाल ने उसे तख़्त से उतारकर दरबदर कर दिया। मगर इस शिकस्त के बदले में उसने बनारस में मिस्टर चेरी को मारकर ही दम लिया—भले ही टीपू सुल्तान के वेलूर क़िले में क़ैद होकर उसे बेवक़्त दम तोड़ना पड़ा।

अब लखनऊ के तख़्त पर नवाब सआदत अली ख़ां बैठे थे। मिल्कियत की मुराद में अंग्रेज़ों से वो बाज़ी हार चुके थे और अब उनके हौसले बुलन्द होने लगे थे। शाही ख़ज़ाना दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा था। यही वह दौर था जब

दिलकुशा से लेकर फ़रहतबख़्श तक विलायती ढंग की कोठियां मार्टिन साहब के नक़्शों पर क़तार में खड़ी होने लगी थीं। गोमती के किनारे महलों, दरबार और बारादरियों का हुजूम बिछने लगा। मगर क़ैसरबाग़ का नाम अभी अनसुना था। नवाब सआदत अली ख़ां की बनवाई 'बादशाह मंजिल' वह पहली इमारत थी जिसने क़ैसरबाग़ की हदों का एक सिरा थामा था वरना सिर्फ़ ख़ास बाजार अब तक वजूद में आया था।

नवाब अपने साले साहब और रेजीडेंट की साजिश का ज़हर पीकर मौत की गोद मे चुपचाप सो रहे तो उनका प्यारा बेटा गाज़ीउद्दीन हैदर तख़्तनशीन हुआ। ख़ास बाज़ार ख़त्म हुआ और नये नवाब ने अपने माँ-बाप के लिए दो आलीशान मक़बरे बनवाकर खड़े कर दिये। अब क़ैसरबाग़ की ज़मीन पर जादू जाग रहा था। इधर नवाबी की कलग़ी बादशाहत के ताज मे बदली और उधर छतर-मंज़िल पर सुनहरा छत्र जगमगाने लगा। शाह नजफ़ की ज़ियारत होने लगी थी। दरबार की वह शान हो गयी थी कि विलायती नस्ल की लड़कियाँ मुग़लिया लिबास पहन-पहनकर हरम मे दाख़िल हो रही थी। फ़िरंगी हर चाल में जौ डालकर गेहूँ घसीट रहे थे मगर हमारे नवाबों की नवाबी क्या चीज थी, होशो-हवास शराब के हवाले किये जा चुके थे। अक़्लो-दिमाग़ फ़ाहिशा औरतों की मुट्ठियों में क़ैद होकर रह गये थे। इस ऐशो-इशरत में जो कुछ कोर-कसर बाक़ी रह गयी थी वह उनके बेटे बादशाह अवध द्वितीय नसीरुद्दीन हैदर साहब ने पूरी कर दी। इस ज़माने में मैंने अवध के सुनहले-रुपहले ख़ज़ाने को ऐबों की गंदी नाली में बहते देखा था। अफ़सोस कि महल का रुतबा महरी-कहारिनों तक पहुँच गया था और सलाह-मश्वरे अंग्रेज़ नाइयों और मदकचियों से लिये जाने लगे थे। बादशाह को नीचे तबक़े की औरतों की सोहबत और हरामख़ोर फ़िरंगियों की दोस्ती ने बेहद तबाह किया। इन दुश्मनों ने सिर्फ़ उनकी जिंदगी को ही नहीं बरबाद रखा, आख़िर में उनकी जान तक के ग्राहक हो लिये।

मेरा भाग्य अभी मिट्टी मे सो रहा था। वैसे मुझसे कुछ फ़ासले पर एक तरफ़ नवाब रौशनुद्दौला की कोठी लहलहा रही थी तो दूसरी तरफ़ बारह इमामों की दरगाह का सदक़ा हो रहा था। बादशाह मंज़िल अब अकेली नहीं थी। उसके पहलू में चाँदी वाली बारादरी चमक रही थी और नगीने वाली बारादरी मुस्करा रही थी। थोडे से समय मे फिर दो बादशाहतें आयीं, बूढे बुजुर्ग और ज़ाहिद तबीयत हुक्मरानों की। ये थे मुहम्मद अली शाह और अमजद अली शाह। पहले को हुसैनाबाद ने फ़ुरसत नहीं दी कि उसे एक बेबीलोन बनाकर छोड़ गये तो दूसरे ने हजरतगंज को आबाद करने में जान लगा दी।

उसके बाद शुरू होती है वह कहानी···कहानी नहीं, एक हक़ीक़त जिसका नाम है 'शामे अवध'। चिराग़ भी बुझते-बुझते एक बार भड़कता है। इस सल्तनत

की बुझती हुई शमा के आख़िरी शोले का नाम वाजिद अली शाह था और उसके नूर की झलक 'क़ैसरबाग़' बनकर रह गयी।

नबाब वाजिद अली शाह तख़्तनशीन हुए तो शहर पहले से ही बहिश्त था। दरिया पर पुल बँध चुके थे, नहरें बिछ चुकी थी। कानपुर तक सड़क खिंच चुकी थी। नवाब ने अब अवध के दरबार को 'इंदर सभा' में बदल दिया। एक नये ख़्वाब की नींव उन्होंने डाल दी। अस्सी लाख रुपये की एक चौपड़ बिछा दी जिसका नाम कैसरबाग़ रखा गया। चारों तरफ़ चमन-दर-चमन, रंग-ओ-रौनक़, ख़ुशबू और ख़ूबसूरती का जाल बिछ गया। शहंशाह मंज़िल, वज़ीर मंज़िल, ज़र्द कोठी, परीख़ाना, बइयत उल इंशा, ख़ास महल, क़ैसर पसंद, चौलक्खी कोठी, ज़िलोखाना जैसे तमाम महलात सरगोशियाँ करने लगे। दो लाजवाब लाखी दरवाजों के बीच में मुझे पनाह मिली। मुझे कस्र उल बुक़ा (मातम का भवन) कहा गया और अलमताजियों से मेरा दामन भर दिया गया। मेरे सामने एक दरवाज़ा है जिसके ऊपर मैंने ख़ुशनसीबी का सूरज उगते हुए देखा है। एक और दरवाज़ा है जिसके पीछे मैंने बदनसीबी के सूरज को डूबते हुए देखा है।

मैंने बहादुर नवाब के बाजुओं का दम भी देखा है जिसे ख़ूबसूरत बहानों से छीन लिया गया। मैंने उन्हें तलवार रखकर तबले की जोड़ी भी उठाते देखा है। मैंने रासलीला का संयोग भी देखा है और जोगिनिया मेले का वियोग भी सहा है।

लखनऊ अब किसी शहर, सल्तनत या जगह का नाम नहीं रह गया था। एक तहज़ीब, एक कलाकेन्द्र, एक गुनवत नगर का नाम था और यही वह इंतहा थी जब लखनऊ की सरज़मीन आसमान को छूने लगी थी। यहाँ ज़री, गोटे और चिकन, कारचोबी के सपने बुने जा रहे थे, यहाँ के कुम्हार मिट्टी में प्राण फूँक रहे थे। यहाँ की ज़मीन सफ़ेद ख़रबूजे और दसहरी आम ईजाद कर रही थी। यहाँ की फ़ज़ा में कत्थक के तोड़े और ठुमरी की तानें रच गयी थीं। एक तरफ़ शेरो-शायरी के प्याले छलक रहे थे तो दूसरी तरफ़ मिर्ज़ा दबीर और मीर अनीस के मरसियों से आँखों के बादल बरस रहे थे।

फिर! फिर वही हुआ जो तलवार से निगाह हटाकर पायल पर नज़र रखने वाले बादशाहों का होता आया था। तवायफ़ों और भाँड़ों के दिन फिर आये थे मगर शरीफ़ों के घरों में चिराग़ जलना मुश्किल हो गया था पतंग के पेच से लेकर मुर्ग़बाज़ी के दाँव पर मर्दानगी ख़र्च हो रही थी। अफ़ीम, शराब और फ़लक सैर के नशे में तरक़्क़ी के सपने डूबे जा रहे थे।

मेरे सामने बादशाह मंज़िल के सहन में जनरल आउटरम ने कम्पनी सरकार का वह संगदिल फ़रमान सुनाया था जिसमें शाहे पंजुम की सल्तनत छीन लेने का इशारा था। ऊपर बारजे पर दर-परदा खड़ी हुई राजमाता मलिका किश्वर के

वे आँसू कैसे भूले जा सकते है। उस माँ के आँसू जिसने अपने बेटे का हक़ माँगने के लिए सात समंदर पार जाकर मलिका विक्टोरिया के आगे दामन फैलाया था।

लाखी दरवाज़े पर जाने आलम को रुख़सती देते हुए लखनऊ वालों का दुख-दर्द मेरे कलेजे में आज भी क़ायम है। शाहे अवध की मजबूरियों का वह जनाज़ा आज भी क़ैसरबाग़ की ईंट-ईट में दफ़न है।

दरो दीवार पे हसरत से नज़र करते हैं,
रुख़सत अय अहले वतन, हम तो सफ़र करते हैं।

और इस तरफ़ दफ़न होने के लिए लखनऊ की मिट्टी को तरसने वाले वाजिद अली शाह कलकत्ते ले जाकर नज़रबंद कर दिये गये जिनका अहद था—

लखनऊ हम पर फ़िदा, और हम फ़िदाए लखनऊ
आस्मां की क्या है हिम्मत, जो छुड़ाए लखनऊ।

फिर इस मिट्टी से एक तूफ़ान उठा जिसने नयी नवेली विदेशी सत्ता की एक बार जड़ें हिला दीं। इस तूफ़ान का नाम ग़द्र था। बेगम हज़रतमहल ने जी-जान से सन् सत्तावन की इस आग को भड़काया था। मैंने हँस-हँस के शमाए वतन के परवानों को इस आग में जलते देखा है। राजा जियालाल सिंह को फाँसी पर चढ़ते देखा है। और मौलवी अहमदुल्ला उर्फ़ नक़्क़ाश शाह की जांबाज़ी के नमूने देखे हैं मगर मुद्दतों से मरीज़ और मोहताज हिन्दुस्तानी एक अरसे के लिए गोरों की गिरफ़्त में आ ही गये।

क़ैसरबाग़ लूट लिया गया। करोड़ों की सपदा कौड़ियों के मोल बिक रही थी। जिनके पाँवों की मेंहदी देखने को दुनिया तरसती थी वह बेगमात अवध नंगे सिर बिन चादर के महल से निकल रही थीं। जो नवाबज़ादे घोड़ी पर चढ़कर हवाख़ोरी करते थे वो फिटन के घोड़े हाँकने लगे थे।

मेरा सफ़ेद सादा लिबास किसी उजड़े सुहाग की कहानी बन गया था जिसे अंग्रेज़ बहादुर और तमाम तअल्लुक़ेदार भी मिलकर सँवार न सके। यह अंग्रेज़ी राज्य था। रईस चाटुकारों का ज़माना था, ग़रीबों की मजबूरियों का ज़माना था। बटलर साहब ने और राजा महमूदाबाद ने फिर लखनऊ की माँग में मोती भरने की कोशिश की।

मेरे कानों में स्वतंत्रता संग्राम के अधिनायक महात्मा गांधी के नारों और नेहरू के जोशीले भाषणों की गूँज अभी तक बाक़ी है। कांग्रेस-मुस्लिम लीग के जलसों और साइमन कमीशन की बैठक की यादें अभी तक ताज़ी हैं। एक सदी

बाद डूबा हुआ सूरज फिर से मुस्कराया था। देश आज़ाद हुआ, लखनऊ का भी कायाकल्प हुआ। अशोक की लाट की मरमरी अनुकृति क़ैसरबाग़ चौराहे का विजयस्तम्भ बनी। मलिका टूड़िया की छतरी में बेगम हज़रतमहल का सिक्का जमा। बटलर साहब मचान से उतर गये और टाउन हाल से लाट साहब निकल गये। वक़्त आया, वक़्त गया मगर मैं अभी वहीं हूँ—समय की समाधि बनकर और लखनऊ वालों के दिल का आईना।

ताजदारे अवध

अठारहवीं सदी का सूरज अभी एक नेज़ा आसमान पर चढ़ पाया था कि उत्तरी भारत के अवध सूबे का इतिहास नयी करवटें बदलने लगा। दिल्ली के तख़्तेशाही पर मुहम्मद शाह विराजमान थे, नेपाल की हरियाली तराई और गंगा के उत्तरी किनारे के बीच बसा हुआ अवध सूबा दिल्ली वालों की ही मिल्कियत था, जिसके बन्दोबस्त के लिए बादशाह मुहम्मद शाह ने गिरधर नागा को लखनऊ भेज दिया था, जो कि इलाहाबाद के गवर्नर छबीले राम के भतीजे थे।

उन्हीं दिनों ईरान के नैशापुर क़स्बे में मुहम्मद अमीन नाम के एक सरदार रहा करते थे। अपनी बीवी से किसी बात पर नाराज़ होकर मुहम्मद अमीन साहब रोज़ी की तलाश में हिन्दुस्तान चले आये थे और गुजरात के सूबेदार नवाब सर बुलन्द ख़ां के मुसाहिब बन गये थे। मुहम्मद अमीन जितने बहादुर थे उतने ही तुनुकमिज़ाज भी थे। एक शिकार के सिलसिले में कुछ कहासुनी हो जाने पर वो गुजरात की नौकरी छोड़कर दिल्ली दरबार में आ गये। यहाँ पहले तो उनको १,००० रुपये माहवार पर मुलाज़िम रखा गया फिर १७ अक्तूबर, १७१९ को १८ लाख रुपये सालाना तनख़्वाह पर फ़ौजदार बना दिया गया। दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह की जान बचाने के इनाम में ही इन्हें 'सादत ख़ां' का ख़िताब मिला और उसके साथ ही इन्हें आगरे का गवर्नर बनाकर भेज दिया गया।

सन् १७३२ में सादत ख़ां को अवध का सूबेदार बना दिया गया। बादशाह मुहम्मद शाह ने सादत ख़ां के सर से ईरानी साफ़ा उतारकर उसकी जगह सूबेदारी की पगड़ी रख दी और उन्हें लखनऊ की तरफ़ रवाना कर दिया। अवध सूबे की अच्छी देखभाल और अच्छा इंतज़ाम करने पर सादत ख़ां नैशापुरी को बुरहानुलमुल्क का ख़िताब भी मिला मगर उनको दिल्ली की तरफ़ से विज़ारत

करने का बहुत शौक़ था जो उनकी ज़िन्दगी में पूरा नहीं हुआ।

सन् १७३९ में सादत ख़ां के बाद अवध की सूबेदारी मु० मकीन साहब को मिली। वे सादत ख़ां के भांजे थे और उनकी बेटी सदरुन्निसा बेगम इन्हीं को ब्याही थी इसलिए दामाद भी बन चुके थे। अपने ससुर के ज़माने में भी उनके नायब बनकर अवध का इंतजाम सँभालते रहे। मु० मकीन को अबुल मसूर ख़ां कहा जाता था। सन् १७४७ में दिल्ली के शहंशाह ने अबुल मंसूर ख़ां को अपना वज़ीरे आजम बना लिया और नवाब सफ़दरजग का ख़िताब अता फ़रमाया। विज़ारत की जिस रत्नजटित कलगी के लिए बुरहानुलमुल्क उम्र-भर तड़पा किए वो सफ़दरजंग की पगड़ी में आकर चमकने लगी और फिर तो सफ़दरजंग दिल्ली के होकर रह गए। ये उनके दीवान राजा नवलराय के दम का जहूरा था जिन्होंने नवाब के नाम पर अवध के सूबे की बख़ूबी देखभाल की।

सन् १७५६ में सफ़दरजंग के बाद उनके बेटे मिर्जा जलालुद्दीन हैदर उर्फ़ नवाब शुजाउद्दौला ने बाप की गद्दी फ़ैजाबाद में सँभाल ली।

शुजाउद्दौला के वक़्त में सूबेदारी की पाग में लगा नवाबी का कुल्ता एकबार लहरा गया था, कुछ बल खा गया था मगर किसी तरह पगड़ी बच गई। सन् १७६५ में अंग्रेज़ों के साथ एक जंग हार जाने पर नवाब की सल्तनत के लिए ख़तरा पैदा हो गया। यह तो ग़नीमत हुई कि नवाब को ऐन मौक़े पर एक लँगड़ी हथिनी पर बैठा कर बक्सर के मैदाने जग से भगा दिया गया था। इस हार का नतीजा यह हुआ कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने संधि में ५० लाख रुपये लड़ाई का ख़र्च नवाब से वसूल लिया। उस रकम के २० लाख रुपये के लिए उनकी माँ नवाब बेगम ने हाथ की चूड़ियाँ तक और उनकी बीवी बहू बेगम ने नाक की नथ तक उतार कर सारे ज़ेवरात दे डाले थे। बाक़ी ३० लाख के बदले चिनार गढ़ का क़िला अंग्रेज़ों को दे देना पड़ा जिसकी नक़द रक़म चुका देने पर भी गंगा के किनारे का वह क़िला फिर कभी वापस नहीं मिला। उसके साथ ही इलाहाबाद का इलाक़ा भी नवाब के हाथ से निकल चुका था। बक्सर की लड़ाई और उस गोरे अफ़सर की संधि ने सबसे बड़ा रोग ये दिया कि दरबारे अवध में इसी बहाने कम्पनी सरकार का पाँव पड़ गया और वह पाँव बाद में अंगद का पाँव बनकर रह गया।

सन् १७७५ में लखनऊ की क़िस्मत का सितारा चमका जब बहू बेगम के साहबज़ादे मिर्ज़ा अमानी उर्फ़ आसफ़ुद्दौला अपनी माँ से रूठकर फ़ैज़ाबाद से लखनऊ चले आए। लखनऊ का भाग्य लिखने वाले इस दानी नवाब में तमाम और भी ख़ूबियाँ थीं। अब तक ईरानी ख़ून मे हिन्दुस्तानी रग शामिल हो चुका था।

आसफ़ुद्दौला भी अपने बाप की तरह बड़ी-बडी हिन्दुस्तानी मूँछें रखाए रहते

थे और ईरानी दाढ़ी का सफ़ाया कर चुके थे। आसफ़ुद्दौला की पगड़ी की सार-सँभाल राजा टिकैतराय और राजा झाऊलाल के कन्धों पर थी। १२ सितम्बर, १७६१ को आसफ़ुद्दौला के मरने पर उनके बेटे वज़ीर अली को गद्दी पर बैठाया गया, मगर अफ़सोस कि अंग्रेज़ों की शातिराना चाल ने नवाबी की पगड़ी उसके सिर से बड़ी बदतमीजी से उछाल दी। चार महीने की हुकूमत के बाद ही अवैध संतान घोषित करके कम्पनी सरकार ने उसे गद्दी से उतारकर बनारस भेज दिया। सन् १७६६ में वज़ीर अली ने अपने जानी दुश्मन बनारस के रेज़ीडेंट मि० चेरो को मार डाला। जिसकी सज़ा में उसे गिरफ्तार करके पहले फ़ोर्ट विलियम में, फिर वेलूर के क़िले में रख दिया गया। चार महीने ताज पहन लेने के बाद उसको उम्रक़ैद की बेड़ियाँ पहननी पड़ी थीं। सन् १८१७ में वह वीर बाँकुरा टीपू सुल्तान के वेलूर वाले क़िले में ही मर गया। इस अभागे नवाबजादे के नसीब को क्या कहा जाये कि जिसकी शादी में आसफ़ुद्दौला ने तीस लाख रुपये ख़र्च किए थे उसके कफ़न-दफ़न में बमुश्किल तमाम सिर्फ़ सत्तर रुपये ख़र्च किए गए।

सन् १७६८ में आसफ़ुद्दौला के सौतेले भाई मिर्ज़ा अमीन ख़ां उर्फ़ सआदत अली ख़ां के सर अंग्रेजों ने अपने हाथों से सेहरा बाँधा। इस नवाब ने सल्तनत की बुनियादें ऐसी मज़बूत कर दीं कि पाँच पीढ़ियों तक हुकूमत क़ायम रही। इस नवाब ने अवध के ख़ज़ाने में १४ करोड़ रुपये इकट्ठा कर लिए। नवाब दरबार करने के अलावा शाहे दिल्ली वाली कलगी-कुल्ले वाली पगड़ी नहीं पहनते थे। वह सर पर एक रेशमी बस्तर बाँधे रहते थे जो बल खाए नाग की तरह सिर पर छग बनी बैठी रहती थी।

सआदत अली ख़ां के वक़्त के एक मशहूर शायर कतील फ़रीदाबादी उनकी कोठी फ़रहतबख़्श में जो आने से कतराते थे उसकी एक वजह नवाब के सर की पगड़ी भी थी। एक बार बुलाने के शाही फ़रमान के जवाब में क़तील साहब ने लिख भेजा था।

"हुज़ूर, मुझे आने से कुछ इन्कार नहीं मगर मुश्किल यह है कि आपके साथ तम्बाकू का ज्वालामुखी ज़रूर होगा और वो मुआ हुक़्क़ा मेरी बर्दाश्त के बाहर की चीज़ है। दूसरे, आपके सर पर जो बस्तार (पेचदार पगड़ी) रहती है उसके पेचोख़म में मेरा दिमाग़ उलझकर रह जायेगा और मेरी शेर कहने की ताब ख़त्म हो जायेगी। तीसरे, जनाब हर वक़्त जिन ख़ुशामदियों से घिरे रहते हैं उनकी एक-एक की शक्ल से मुझे सख़्त नफ़रत है। क्या ये मुमकिन है कि सिर्फ़ आप और मैं इस तरह मिल सकें जहाँ ये मुसीबतें दरम्यान में न हों।" उनके बेटे रफ़त उद्दौला उर्फ़ ग़ाजीउद्दीन हैदर अवध के नवाब वज़ीर बने। इनके ही वक़्त में नवाबी के सर पर वो जलजला आया कि पगड़ी ताज में बदल गयी। गवर्नर-

जनरल वारेन हेस्टिग्स से कानपुर में हुई एक मुलाक़ात मे कुछ ऐसी सरगोशियाँ हुई कि नवाब अंग्रेज़ो के तो हमनवा बन गए और दिल्ली दरवार से नाता तोड़ लिया। सन् १८१६ मे कम्पनी सरकार ने नवाब को अवध का प्रथम बादशाह घोषित करके जवाहराती ताज उनके सिर पर रख दिया। यह और बात थी कि इस बादशाहत को ख़रीदने मे नवाब को ढाई करोड रुपये और तमाम जागीर देनी पडी थी। गाजीउद्दीन हैदर अब 'हिज एक्सीलेंसी' से 'हिज मैजेस्टी' बन चुके थे। अब वो नवाव वजीरुल बहादुर नहीं बल्कि बादशाह अवध अव्वल थे। लखनऊ के कस्र उल सुल्तान नाम के दरबार महल में हुई इस ताजपोशी का विदेशी पर्यटकों ने बडा शानदार जिक्र किया है। इस ताजपोशी मे सिर्फ तीस हजार के मोती निछावर किये गये थे। वादशाह गाजीउद्दीन हैदर के दरबार का हिन्दुस्तान का सबसे खूबसूरत तहज़ीबरान्द, और शानदार दरबार माना जाता था।

सन् १८२७ मे उनके बेटे मिर्जा सुलेमां शाह उर्फ़ नसीरुद्दीन हैदर अवध के वादशाह बने। नसीरुद्दीन की अंग्रेजपरस्ती का नतीजा यह हुआ कि दरबार से लेकर महल तक फ़िरंगियो का बोलबाला हो गया। उनके दोस्त, दरबान से लेकर नाई, कसाई तक अंग्रेज थे। महलों की नजाकत और दरबारो के रख-रखाव में योरोपियन बादल वरसने लगे थे। यहाँ तक कि बादशाह का ताज भी बरतानिया तर्ज पर बनने लगा था। नसीरुद्दीन हैदर के पास दो ताज थे जिनमे से एक उनके सर पर रहता था और दूसरा उनकी उस दौर की सबसे महबूबा बेगम के महल मे रहा करता था। मशहूर है कि उस ताज ने कभी एक महल मे ज्यादा दिन पनाह न ली, क्योंकि उसके मुकद्दर मे एक से एक गर्दिशें थी। मजा तो ये कि शाही खून और दिल्ली खानदान वाली वादशाह की असल ब्याहता नवाब सुल्तान बहू के महल में वो ताज कभी न पहुँचा; अलबत्ता बाँदियो, धायो, डोमिनों, तवायफ़ों और मेमों के पलंगों के सरहाने वो ताज मुस्कराता रहा। यह बात और थी कि औरो की जूतियों मे लगी इस धूल के बगूले बादशाह के सर पर बैठ चुके थे और अब ये सारी औरतें मलिका कहलाने लगी थीं।

नसीरुद्दीन हैदर के बाद अवध के ताज के लिए वो छीना-झपटी हुई, वो धींगामुश्ती हुई कि बस! बादशाह बेगम अपने पोते मिर्जा रफीउद्दीन हैदर उर्फ़ मुन्नाजान की ताजपोशी के लिए बेकरार थी। और अंग्रेज रेजीडेंट सआदत अली खां के भाई नसीरुद्दौला को ताज पहनाने के लिए बेताब थे। ताज-ओ-तख्त का पहला तलबगार नाबालिग था तो दूसरा तावेदार क़ब्रिस्तान का मेहमान था।

लाल बारादरी में दादी के इशारो पर मुन्नाजान की ताजपोशी हुई थी कि बाहर बगावत की तोपे भड़क उठीं, और वही हुआ जो कम्पनी सरकार को मंजूर था। वादशाह बेगम और मुन्नाजान को उस ताजदारी की बडी महँगी क़ीमत

चुकानी पड़ी कि उम्र-भर चुनारगढ़ के क़िले में दोनों को नज़रबन्द होकर रहना पड़ा।

मुहम्मद अली शाह बड़े मोमिन और बुज़ुर्गवार थे। उनका एक ताज अक्सर सर पर रहता था तो दूसरा किसी बेगम के बिस्तर पर नही बल्कि हुसैनी अलम या ज़री ताजिए के पाए से लगा हुआ रखा रहता था। उनके ताज की एक मसनवी अभी तक लखनऊ के छोटे इमामबाड़े में रखी जाती है। जब सुरैयाजाह अमजद अली शाह अवध के शहंशाह बने तो उनके ताज की कलियाँ और ऊँची हो गयी। और उनमें कस्रत से जवाहरात जड़े जाने लगे। मोतियों की लड़ियों से ताज का सिंगार और बढ गया। १३ फरवरी, १८४७ को २६ वर्ष की उम्र में अमजद अली शाह के साहबजादे क़ैसर जमां उर्फ़ वाजिद अली शाह ने अपने बाप का ताज पहना। अवध के बादशाहों की ताजपोशी की रक्षा मे अयोध्या के सम्राटों की राजनीतिक परम्परा की परछाइयां मिलती थीं। कहा जाता है कि वाजिद अली शाह की ताजपोशी के वक़्त जब एक पाकदामन मौलवी उनके सर पर ताज रखने चला तो वो ताज सर पे न ठहरा और सिंहासन की ठोकरें खाता हुआ जूतियों के पास आ गिरा। ये बदसगुनी देखते ही उनकी माँ मलिका किश्वर दरूद पढ़ने लगी थी और दरबार के सैयद लोग तस्बीह के दाने तेजी से घुमाने लगे थे। जाने आलम बड़े गुणी और गुणग्राही इंसान थे। उनके तौर-तरीक़ों और शान-शौकतों के रंग-ढंग निराले थे। इसलिए उनके ताज ने भी तरह-तरह के रंग बदले। वो अलग-अलग मौक़ों के लिए अलग-अलग ढंग के ताज पहनना पसंद करते थे, इसलिए तुर्की टोपीदार ताज से लेकर शाहजहानी तर्ज़ तक के भारी ताज उनके पास रहा करते थे। इस ताजदारे अवध का ताज इस सल्तनत का सबसे ख़ूबसूरत ताज था। इस ताज से ईर्ष्या रखने वाले नवाब मुस्तफ़ा अली का दावा शायद कुछ ग़लत नही था। वे वाजिद अली शाह के बड़े भाई थे और दस्तूरे अवध के मुताबिक़ उनको ही बादशाह होना चाहिए था लेकिन अंग्रेज़ अफ़सरों ने मौक़े की नज़ाकत को ख़ूब अच्छी तरह परख लिया था। मुस्तफ़ा अली साहब को दिमाग़ी तौर पर नाक़ाबिले हुकूमत बताकर अंग्रेज़ों ने रंगीन मिज़ाज और चुलबुली तबीयत वाले वाजिद अली शाह के हाथों में शासन की बागडोर सौंपना ज़्यादा बेहतर समझा। स्मरण रहे कि इस अपमान की आग में जलने वाले नवाब मुस्तफ़ा अली ने अपना हक़ न मिलने पर ताज की जगह उम्र भर टोपी नही पहनी और उस ज़माने में एक अपवाद की तरह नंगे सर लखनऊ में अपनी बग्घी पर हवाख़ोरी के वास्ते निकला करते थे। अंग्रेज़ों की इस बेईमानी, चालाकी से तंग आकर उन्होने हजार बार लखनऊ में बसर होने वाली उस ज़िन्दगी से कर्बला शरीफ़ में जाकर झाड़ू लगाना बेहतर समझा मगर वो भी उनकी क़िस्मत में न था। उन्हें ग़द्र के दिनो मे रेजीडेंसी के क़ैदख़ाने की मौत मिली और उसी

महल की मिट्टी का तकिया मिला। राजनीतिक उथल-पुथल, ऐशो-विलास की कमजोरी और फ़िरंगी चालों के नतीजे पर वाजिद अली शाह को अपनी बादशाहत से हाथ धोना पड़ा। ११ फ़रवरी, १८५६ को शाह अवध के माथे से ऊँची कलगीदार हीरे-मोतियों वाला जगमग करता ताज उतार लिया गया और १२ मार्च, १८५० को उन्हें कलकत्ता रवाना कर दिया गया। नैशापुर (ईरान) के इस ख़ानदान की सल्तनत के इस पतन की वो घडी बड़ी मुश्किल थी। ये लोग इमामिया मजहब को मानने वाले शीआ बादशाह थे। लखनऊ मे रुस्तम नगर वाला रौज़ा हज़रत अब्बास इनका परित्रतम पूजास्थल रहा है। लखनऊ छोड़ते वक़्त आख़िरी ताजदारे अवध ने अपना ताज और अपनी तलवार हज़रत अब्बास की दरगाह में रखकर सिजदा किया और कहा, "हुजूर, आपकी अमानत आपकी ही जमानत है। अपनी आबरू बंधक रख रहा हूं अगर वक्त ने इजाजत दी और मुल्क वापस मिला तो इसी दरगाह में आकर फिर ताज पहनूंगा, तलवार फिर बाँधूंगा।

मगर वक़्त बड़ा बेमुरव्वत होता है। जो वक़्त के साथ नहीं चल सका उसे वक़्त ने कोसों दूर पीछे छोड़ दिया है। इस तरह अवध के ताजों की उम्र दराज़ ख़त्म हो गई, जैसे चिराग़ बुझते वक़्त भड़क कर गुल होता है। एक बार सन् सत्तावन की आग की एक मशाल अपने हाथ में लेकर वाजिद अली शाह की बेगम हज़रतमहल ने अपने ११ वर्ष के लाड़ले मिर्ज़ा रमज़ान अली उर्फ़ शाहज़ादा बिरजीसक़द्र की ताजपोशी ६ जुलाई, १८५७ को चुपचाप चाँदी वाली बारादरी में की थी। उनकी फ़ौज के कमज़ोर सैयद बरकत अहमद ने ये ताज बिरजीस-क़द्र के सर पर रखा था लेकिन अंग्रेजों की शातिराना कूटनीति और जबरदस्त फ़ौजदारी ने माँ-बेटों का पाँव लखनऊ में टिकने नहीं दिया उनको राज और ताज दोनों ही लखनऊ की ख़ाक में मिलाकर रह गए और उसके साथ ही ताजदारी का सिलसिला हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म हो गया।

पिया जाने आलम

३० जुलाई, १८२२ को मलिका किश्वर फ़ख़्रुज़्ज़मानी नवाब ताजआरा बेगम ने एक चाँद-से बेटे को जना था। माँ ने सितारों को गर्दिश में देखा तो छठी के दिन जोगिया कपड़े पहनाए थे और हर सालगिरह में केसरिया जोड़ा पहनाया जाता था। बचपन में एक राजघराने की सन्तान होने के नाते लालन-पालन बड़ी धूमधाम से हुआ लेकिन बादशाह हो जाने की कोई उम्मीद नहीं थी क्योंकि बड़े भाई मुस्तफ़ा अली मौजूद थे।

मिर्ज़ा क़ैसर जमां उर्फ़ वाजिद अली शाह ने उस्ताद इमदाद हुसैन ख़ां से तालीम पायी थी और इन्होंने ही बाद में नवाब अमीनुद्दौला के नाम से सरकारे अवध की विज़ारत की थी।

इस वक़्त तक युवराज का ख़िताब 'अबुल मंसूर सिकन्दरजाह सुलेमान हशम, साहिबे आलम वलीअहद मिर्ज़ा मुहम्मद वाजिद अली बहादुर था'।

१३ फरवरी, १८४७ की शाम ५ बजे मुस्तफ़ा अली शाह की मौत हुई और ६ बजे रात वाजिद अली शाह की तख़्तनशीनी हुई। अपनी हुकूमत में बादशाह बहुत अच्छे, नेक और वफ़ादार सलाहकारों की मदद से राजकाज चला रहे थे। दस्तूरे वाजिदी नाम से उनकी अनुशासन संहिता तैयार की गई थी। उनकी सवारी में भी शिकायत का बक्सा लगा रहता था जिसमें का एक-एक परचा बादशाह अपने महल में बैठकर पढ़ते थे। इससे पहले नसीरुद्दीन हैदर के वक़्त में दरबार की तरफ़ से एक घोड़ा शहर में छोड़ा जाता था जिसकी दुम में एक पीपा बँधा रहता था और जनता उसी में अपनी शिकायतें और मुरादें लिख-लिखकर डालती थी। वो घोड़ा शहर की हर सड़क से गुज़रता हुआ शाम तक वापस लौटता था।

बादशाह का साहित्य-प्रेम

वाजिद अली शाह बड़े साहित्य एवं संगीत-प्रेमी बादशाह थे । वे स्वयं एक साहित्यकार थे। कहा जाता है, उन्होंने सौ पुस्तकें लिखी थीं पर उनमें ४० पुस्तकें प्राप्त हैं। जिनमें उनके ६ दीवान और मनवियाँ मशहूर हैं। उनकी सर्वश्रेष्ठ काव्य-रचना 'कुल्लियाते अख़्तर' है। इसके अलावा बादशाह ने लाखों शेर कहे । गद्य पर भी वाजिद अली शाह का अच्छा अधिकार था । वो कठिन उर्दू के साथ-साथ सरल मुहावरेदार आम बोलचाल की भाषा भी लिखते थे, एक ख़त का नमूना पेश है जो उन्होंने मुमताज़ बेगम को लिखा था—

"तुम्हारे ख़त को सीने पर रखा, छाती से लगाया, आँखों पर रखा, बहुत चूमा-चाटा, यहाँ तक कि हुरूफ़ भी मिट गये, इस पर भी बेजवाब लिखे तस्कीन न हुई।"

उर्दू-फ़ारसी में भी उन्होंने बहुत से क़सीदे लिखे हैं जो 'दफ़्तर-परीशां' के नाम से दर्ज है । दो अरबी चीज़ें लिखीं जिन पर अमीर मीनाई के फ़ारसी ने टिप्पणी की है । गद्य-पद्य दोनों पर उनका बराबर का दावा था । उनकी लिखी प्रमुख गद्य रचनाएँ हैं —१. नसाइहे अख़्तरी, २. मुबाहिसा बैतुल नफ़्स वल अक़्ल (हृदय तथा मन में बहस), ३. रिसालदर बयान अहले बैत, ४. जौहरे उरुज (काव्यकला) ।

बादशाह को साहित्य से अगाध प्रेम था । बादशाह के दरबार में असीर, बर्क़, ख़्वाजा असद, कलक़ ज़की, दरख़्शा, क़बूल, शफ़क़, बेख़ुद, हुनर, वग़ैरह प्रसिद्ध शायर थे। वो बर्क़ और असीर से शायरी में परामर्श लेते थे। सैयद मुज़फ़्फ़र अली ख़ां असीर उनके दरबारी कवि थे जो अमेठी के रहने वाले थे, सैयद इमदाद अली के बेटे थे और मसहफ़ी के शिष्य थे । ये बादशाह के साथ कलकत्ता नहीं गये, और उनके बाद ६ माह लखनऊ तथा ६ माह रामपुर में रहते थे, इनके अलावा बादशाह के साथ मीर हसन (पुराना सहरुल बयान, गुलजारे नसीम), मोमिन ख़ां, नसीम क़लम, नवाब मिर्ज़ा 'शौक़' और 'शौक़' क़िदवई वग़ैरह शायर थे । पद्य मे बादशाह अख़्तर नाम से ग़ज़ल और जाने आलम पिया या अख़्तर पिया नाम से ठुमरी लिखते थे ।

लखनऊ और कलकत्ता दोनों में उनका अपना प्रेस था, जहाँ से छपे हुए अपनी रचनाओं के प्रिन्ट्स को मुफ़्त बाँटते थे । उनकी पांडुलिपियाँ उनके अपने संग्रहालय में मौजूद हैं जो बहुत सुन्दर लिखी हुई तथा सुनहरे बेल-बूटों से सजी हुई है । कलकत्ते में उनके क़ातिब नवाब जुल्फ़िक़ारुद्दौला सैयद मुहम्मद रज़्ज़ाक़ अली थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'हुज़्ने अख़्तर' का सम्पादन अब्दुल अमीन शरर ने किया था और इस ग्रन्थ का प्रकाशन १९२२ में हुआ था ।

उनकी पद्य रचनाओं के कुछ उदाहरण ये है—

रुबाई

सदमा न पहुँचे कोई मेरे जिस्मेजार पर
आहिस्ता फूल डालना मेरे मज़ार पर
हरचन्द ख़ाक मैं था मगर ता फ़लक गया
धोका है आस्मान का मेरे ग़ुबार पर
साग़र वो हूँ समाता नहीं चश्मे यार में
मजनूँ को भी हसद है मेरे जिस्मेजार पर

(कुल्लियाते अख़्तर)

गज़ल

उड़े बाग़ से बाग़वां कैसे कैसे
ख़िज़ां हो गये बोस्तां कैसे कैसे
ख़ुदा के लिए अपनी ज़ुल्फ़ें उठाओ
यहाँ क़ैद हैं बेज़ुबां कैसे कैसे

(कुल्लियाते अख़्तर)

कलकत्ते में बसे हुए वाजिद अली शाह ने इस शेर में अपने दिल का हाल कितनी बेकसी के साथ बयान किया है—

यही तशवीश शवो रोज़ है बंगाले में
लखनऊ फिर भी दिखायेगा मुक़द्दर मेरा

(कुल्लियाते अख़्तर)

वे अपनी प्रवृत्ति को छुपाने के पक्ष में कभी नहीं थे। उन्होंने अपनी हक़ीक़त इस सूरत बयान की है—

ऐ परीज़ादो तुम्हारी आग ने फूंका ये घर
क़ाफ़ ता क़ाफ़ शुहरा और फ़साना हो गये।

(कुल्लियाते अख़्तर)

कहने की बात नहीं कि राज और ताज लुट जाने के बाद भी उनकी तबीयत में रईसी शामिल थी और उन्होंने कहा भी है—

क़ैद होने से कही बू ए रियासत जायगी
लाख गर्दिश आस्मा को हो, जमीं होता नहीं।

(कुल्लियाते अख़्तर)

लखनऊ में क़ैसरबाग़ के दरवाज़े से निकलते समय बादशाह ने यह दर्द-भरा शेर कहा था—

दरो दीवार पे हसरत से नज़र करते हैं
ख़ुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते है।

(कुल्लियाते अख़्तर)

हुगली के किनारे मटियाबुर्ज में आबाद होने पर भी वो कोई दिन न गया जिस दिन बादशाह ने अपने लखनऊ को और लखनऊवालों को याद न किया हो--

ये शबे तार के मानिन्द हमारे अहबाब
छुप गये वादे फ़ना आँख से सारे अहबाब
वो वतन याद है गुरबत में सारे अहबाब
हाय, कब मुझसे मिलेंगे मेरे प्यारे अहबाब

(दीवाने अव्वल)

श्रृंगार और प्रेम से भरी उसकी पद्य रचनाएँ भी कुछ कम लाजवाब नहीं है—

गेसू पा परी रु के रसाई है किसी की
सर पर ये बला आज बुलाई है किसी की
आईनए आरिज पे फ़िसल जाती हैं नजरें
यह मेरा सलीक़ा वह सफ़ाई है किसी की

(दीवाने अव्वल)

अपनी रास-ओ-रंग की महफ़िल के उजड़ जाने का नक़्शा बादशाह ने इस तरह खीचा है—

रविश छानेगी गुलशन में सबा मेरे बाद
बुलबुलें भूलेंगी फूलों की दुआ मेरे बाद
क़त्ल क्यूँ करते है वो दस्ते निगारी से मुझे
तेज़ होगा न कभी रगे हिना मेरे बाद—

(दीवाने सोम)

हुस्नो-इश्क़ में जो विरहवेदना की बातें आती है उनको भी उन्होंने बख़ूबी क़लमबन्द किया है—

रंगे गुले गुलशन को कभी याद न करना
ऐ मुर्ग़े क़फ़स शिकवए बेदाद न करना
ऐ वादे सबा तुझको कसम दश्ते जुनूँ की
ख़ाके दिले पज़मुर्दा को बरबाद न करना

(दीवाने अख़्तर)

बेगमों के बारे में :

न दुनिया से कर दिल में रंजो मेहन
सुना क़िस्सए बेवफ़ाइए-ज़न
सुना कुछ ज़नों की रुखाई का हाल
ख़ुदआराइयों ख़ुदनुमाई का हाल
वो माशूक़ वो दिलदार अख़्तरमहल
वो जाफ़र वो क़ैसर सुने ख़ुशअमल
ये सब मेरी हैं जौज़हाए हसीं—
नहीं शक, नहीं शक, नहीं शक नही।

(हुज़्ने अख़्तर)

बादशाह को अदब-ओ-तहज़ीब का इस क़दर पास था कि अपनी अदीब तबीयत के अनुसार उन्होने छोटे से छोटे ख़िदमतगार को भी सदा अच्छे नाम और ख़िताब से पुकारा। वे हकीम को 'तबीबुद्दौला', हुक़्क़ाबरदार को 'क़लिया-बरदार', मेहतरानी को 'नवाबजहां', क़िस्सागो को 'आरामगोश', कहार को 'क़ादिरबख़्श', खाना देने वाली को 'राहतुस्सुलतान', पानी पिलाने वाले को 'आबक़श ख़ासा (हर हाइनेस लेडी वाटर प्रोवाइडिंग)-बरदार', चिराग़ जलाने-वाले को 'कंवल बरदार' कहा करते थे। जाने आलम के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा पहलू उनके उदार विचार थे और मिलनसार तबीयत का होना था।

वाजिद अली शाह के लिए सच ही कहा गया है—

आख़िरी था वो ताजदारे अवध
शाहे वाजिद अली वो बहारे अवध
फिर वो अन्दाज़े गुफ़्तगू न रहा
हाय वो शहर लखनऊ न रहा।

शाहे अवध की संगीत साधना

कहा जाता है, अवध के अंतिम शासक वाजिद अली शाह का अँगूठा सोते समय भी लयकारी की अदा में चलता रहता था और ये बात सच है कि लखनऊ के इतिहास में संगीत-नृत्य की इतनी वृद्धि-समृद्धि और कभी नहीं हुई जैसी कि

जाने आलम के ज़माने में हुई।

नवाब नाचने-गाने में अत्यधिक रुचि रखते थे। गाने-बजाने की कला को विकसित करने के लिए तरह-तरह के सांस्कृतिक कार्यक्रम क़ैसरबाग़ में आयोजित करते थे। वो रास रचने, नाटक खेलने, इन्दर सभा सजाने और जोगियाना मेला लगाने के रसिया थे। रासलीला के वाजिद अली शाह ख़ुद मोरपंख लगाकर कन्हैया बनते थे। उनके रास खेलने का मुकुट एक लाख रुपये की क़ीमत का होता था। इन्दर सभा मिस्री अमानत की लिखी हुई मशहूर मसनवी थी जिसमें परीख़ाने की तमाम परियाँ राजा इन्द्र बने बादशाह के दरबार में पेश होकर अपने गीत-संगीत के कमाल दिखाती थीं। जब जोगियाना मेला लगता था तो अपने महबूब के नाम पर अलख जगाने वाले और प्रेम में मतवाले जोगी जाने आलम का अभिनय देखने से तअल्लुक़ रखता था। उस वक़्त नवाब सिकन्दरमहल उनकी ख़ास बेगम हुआ करती थी।

इन सभी सांस्कृतिक कार्यक्रम करने वाले गायकों, वादकों और नाचनेवालियों को उन्होंने तनख़ाहें देकर मुलाज़िम रखा था। कलकत्ते में उनकी पार्टी में ३६० आदमी थे जिन पर १,१६,५६० रुपये तनख़ाह ख़र्च होती थी। इस दौर में साम्प्रदायिक एकता का यह कितना साबित क़दम था कि एक मुसलमान बादशाह जिसके धर्म में मौसीकी को हराम समझा जाता था वो संगीत के इतने बड़े जुआरी थे। इससे बढ़कर नृत्य नाटिकाओं में उन्होंने अपनी नाट्य संस्था की स्थापना की। दरअसल क़ैसरबाग़ का परीख़ाना एक तरह का छात्रावास ही था जिसमें तमाम कलाकार लड़कियाँ प्रशिक्षित की जाती थीं। उसमें अच्छी आवाज़वाली रियाज़दार गुनवन्त लड़कियाँ दाख़िल होती थीं जिनको कुछ वेतनभोगी पारंगत परियाँ नाच-गाना सिखाती थीं।

शाहे अवध का दरबार गुनियों से भरा रहता था। प्रसिद्ध नर्तक कालिका बिन्दादीन के पिता ठाकुरप्रसादजी उनके दरबारी कत्थक थे और उन्होंने ही बादशाह को नृत्य की शिक्षा दी थी। बादशाह की महफ़िल में एक से एक बढ़कर उच्च कोटि के गायक और वादक थे। रामपुर के क़ुतुबुद्दीन बहुत अच्छा सितार बजाते थे। उनका हाथ बड़ा मीठा और बेजोड़ था, कोदई सिंह पखावजवादक थे, हाजी विलायत अली दरबार के प्रधान तबलची थे, रफ़ीउद्दौला बड़े जाने-माने गायक थे। लल्लू जी तथा प्रकाश जी कत्थक नृत्य करते थे। कन्हैया नक़्क़ाल और मुहम्मद ख़ां क़व्वाल भी उनकी अंजुमन की ज़ीनत बनते थे तो मुन्नीबाई तवायफ़ की गलेबाज़ी और बिदेसवां वाली वज़ीरन का ध्रुपद उनकी ख़ास पसन्दगी थी। इसके अगुआ प्यारे ख़ां, जाफ़र ख़ां, बासत ख़ां, हैदर ख़ां वग़ैरह, छज्जू ख़ां के बेटे जो अपने को तानसेन के ख़ानदान से बताते थे उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। नेमत उमर ख़ां जिन्हें जन्मजात गवैया माना जाता है, उनके ख़ास उठने-

बैठने वालों में थे और जो उनके साथ कलकत्ते तक जाकर ११ साल मटियाबुर्ज में रहे।

नवाब बड़े फ़नकारपरस्त और अदबनवाज़ आदमी थे। वो ख़ुद दो घण्टे संगीत का रियाज़ करते थे और लयबाज़ी में अच्छे-अच्छे गवैया उनका मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। होली गाने का बड़ा शौक़ था और इसमें उनके दोस्त, वजीर और ससुर नबाब अली नक़ी ख़ां उनका पूरा साथ देते थे। सैयद अली नक़ी ख़ुद अच्छे सितारबाज़ थे जिनसे नवाब की पहली मुलाक़ात एक क़स्बिन तवायफ़ के घर हुई थी। अली नक़ी ख़ां जो हैदर ख़ां के शिष्य थे, होली बहुत अच्छी गाते थे और सितार बजाने में उन्हें कमाल हासिल था। नवाब को ठुमरियों का आविष्कारक माना जाता है। उन्होंने पिया जाने आलम नाम से बहुत-सी ठुमरियाँ और अख़्तर नाम से बेशुमार ग़ज़लें लिखी हैं। उनकी रची ठुमरियाँ ताल और लय की दृष्टि से आज भी बेजोड़ है। इसी परम्परा में बाद में नासिर पिया, कपट पिया और सनद पिया ने लिखना शुरू किया।

'बाबुल मोरा नैहर छूटो हि जाय' उनकी प्रसिद्ध रचना है। उन्होंने बाबुलें, दादरे आदि भी खड़ी बोली में लिखे हैं जिनमें 'अख़्तर पिया' और 'सुल्तान आलम' उपनाम का प्रयोग है—

सैंया जाओ मैं नहीं बोलूँ तोसे
अख़्तर पिया सों, यों जा कहियो
लंगर तोरा चतुर सुजान
मैं अपना दधि बेचन निकली सास ननद की चोरी
सुलतान आलम घर जाने न दूँगी मोतियन की लर तोरी॥

लखनऊ में वाजिद अली शाह के वक़्त में ललितकलाएँ अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थीं। जब नवाब को अवध से कलकत्ते पहुँचा दिया गया तो मौसीक़ी का ये कारख़ाना हुगली के किनारे आबाद हो गया और वहाँ भी उन्होंने संगीत की ख़िदमत में कोई कोताही नहीं बरती। कलकत्ते में उनकी पार्टी में ३६० आदमी थे जिनकी तनख़ाह पर १,१६,५६० रुपये ख़र्च होते थे।

इस सिलसिले में सन् १८६७ के होली के त्यौहार के उपलक्ष्य में कलकत्ता मटियाबुर्ज के दरबार हाल में मनाया गया एक जलसा उल्लेखनीय है। इस संगीत समारोह में जदुमह और अघोरनाथ ने ध्रुपद गाया, सज्जाद मुहम्मद ने सितार बजाया, करामत उल्ला ख़ां के शिष्य धीरेन्द्रनाथ बोस ने सरोद और श्यामलाल गोस्वामी ने इसराज बजाया था। इस महफ़िल में जाने-माने संगीतज्ञों में मुराद अली ख़ां, रामचन्द्र बराय और पतरियाघाट वाले सुरेन्द्रमोहन टैगोर भी मौजूद थे।

नवाब ने पहले तो छोटा ख़याल गाया—

'जब छोड़ चले लखनऊ नगरी'

और फिर तिलक कामोद में बँधा 'नीर भरन कैसे जाऊँ सखी री' गाते हुए पेश्वाज पहनकर कत्थक नृत्य किया।

उन्होंने भारतीय संगीत के पक्ष में अपने साहित्य में एक जगह स्वयं लिखा है—

सुरों की उपज हो तरन्नुम के साथ
हिलें होंठ मुतरिब के कुम कुम
खरज का वक़ार और सुरों की लकीर
वो तानें कि जिनसे पड़े दिल पे तीर

अवध का खोया ख़ज़ाना

जिस तरह लखनऊ और उसकी नवाबी के साथ तमाम रंगभरी बातें और बेनज़ीर दास्तानें जुड़ी हुई हैं, उसी तरह यहाँ के तथाकथित ख़ज़ानो की हक़ीक़त के बारे में भी बड़ी-बड़ी अफ़वाहें फैलती रहीं और बड़े-बड़े हंगामे होते रहे। जहाँ तक नवाबों की नवाबी और दौलते-ख़ज़ाना का संबंध है, नवाबी इतिहास में परस्पर विरोधी तत्त्व मिलते हैं। एक तरफ़ सातवें आसमान को छूती हुई ऐशो आराम की तस्वीरें हैं, तो दूसरी तरफ़ क़र्ज़ और मोहताजगी के नमूने भी हैं। लखनऊ के महलों की चारदीवारियाँ शायद दो समाजों के बीच की लक्ष्मणरेखाएँ थीं।महलों के अन्दर शराब की नदियाँ बहती रहती थीं और सोने की छागल पहने बेशुमार बेगमें इठलाती रहती थीं तो परकोटे के बाहर नगर की जनता मुट्ठी-भर अनाज के लिए मशक़्क़त और मजबूरियों की चक्की में पिसती रहती थी। इधर छतर-मंज़िल के बाग़ों को गुलिस्ताने-हरम और 'अलिफ़लैला के फ़िरदौसी चमन' की संज्ञा दी जाती थी मगर शहर की पेचदार गलियों में ग़रीबी का बोलबाला था और घनी बस्तियों की नालियों में से सड़े पानी का निकल पाना भी दूभर था। ऐसी सल्तनत और बादशाह के ख़ज़ाने को ढूंढ़ना एक अच्छा शग़ल कहा जा सकता है। बाक़ी उसे ढूँढ़ पाना एक अलग बात है।

वैसे तो ख़ज़ाने की शानो-शौकत और उसकी चढ़ती-गिरती तक़दीर का हाल नवाबी इतिहास की किताबों में बड़े क़रीने से मिलता है। लेकिन मीर अहमद की मसनवी में आसफ़ुद्दौला के ख़ज़ाने का कुछ और ही हाल मिलता है। कुछ इसी प्रकार का विवरण किशोरीलाल गोस्वामी की लिखी प्रसिद्ध पुस्तक 'लखनऊ की क़ब्र' के पाँचवें हिस्से में मिलता है।

आसफ़ुद्दौला, जिन्होंने फ़ैज़ाबाद को छोड़कर लखनऊ को अपनी राजधानी बनाया था, फ़ैज़ाबाद से ख़ुद और महज़ कुछ मुसाहिबों की एक टोली लेकर यहाँ

आये थे। शुजाउद्दौला की तमाम दौलत में उनको उतना हिस्सा नहीं मिल सका था, जितने के वे हक़दार थे क्योंकि जिस तरह धरती में धँसी माया पर नागिनों का पहरा होता है, उसी प्रकार अवध के फ़ैज़ाबाद ख़जाने पर नवाब बेगम और बहू बेगम बैठी हुई थीं। ये सास-बहू मरते मर गईं मगर उन्होंने आसफ़ुद्दौला से समझौता नही किया। यही वजह थी कि उसी मधुमक्खी के छत्ते से शहद निकालने के लिए आसफ़ुद्दौला को वारेन हेस्टिंग्स बाज़ जैसे करतबी इन्सान की मदद लेनी पड़ी थी और यह बात हमेशा-हमेशा के आसफ़ुद्दौला के चरित्र पर कलंक बन कर रह गई।

कहा जाता है कि दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले से बंगाल के नवाब ने बड़ी मात्रा में ज़ुमुर्रुद ख़रीदना चाहा था। इस सौदे के माल (ज़ुमुर्रुद) से लदे हुए ३२२ हाथी दिल्ली से बंगाल की तरफ़ जा रहे थे। जब यह कुबेर का कारवां अवध की सरहदों में से गुज़र रहा था तब आसफ़ुद्दौला ने उसमें बारह हाथी तिलंगों की मदद से लूट लिये। वह सम्पत्ति उस समय दो हज़ार करोड़ रुपये की थी।

नवाबी के ज़माने में अवध में कई अकाल पड़े थे। उनमें से एक अकाल के दौरान आसफ़ुद्दौला ने रूमी दरवाजा और बड़ा इमामबाड़ा बनवाना शुरू किया था। 'लखनऊ की क़ब्र' में लिखा है, कि नींव खोदते समय एक प्राचीन संस्कृति अस्तित्व में आ गई और उनको ज़मीन के नीचे अपार सम्पत्ति गड़ी हुई मिली, उसे 'ख़ज़ानए ग़ैब' कहकर पुकारा गया। नवाब नसीरुद्दौला को उस 'ख़ज़ाने ग़ैब' का दारोग़ा बनाया गया। पुरानी आस्थाओं और निजी मान्यताओं के अनुसार उन्होंने इस ज़मींदोज़ दौलत का पूरा-पूरा उपयोग करना पसन्द नहीं किया। उस अतुल धनराशि में से सिर्फ़ कुल दो अरब रुपयों के मूल्य की सम्पत्ति निकाल ली गई और बाक़ी ज्यों की त्यों दफ़्ना दी गई। उस स्थान की सुरक्षा और महत्त्व को दृष्टि में रख कर वहाँ पर इमामबाड़ा जैसा पवित्र स्थल बनवा दिया गया। इस आसफ़ी इमामबाड़े के ऊपर और नीचे भूलभुलैया जैसी अजीबोग़रीब इमारत का निर्माण हुआ। भूलभूलैया को इमारते ग़ैब भी कहा जाता है और यह स्थान सदा से ही रहस्यपूर्ण माना जाता रहा है।

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि आसफ़ुद्दौला का इमामबाड़ा अपनी कुछ विशेषताओं के कारण संसार की कुछ गिनीचुनी इमारतों में से एक है। इतने बड़े पैमाने पर और अच्छे ख़ासे विस्तार में ऐसी आलीशान इमारत का बनवाया जाना बड़ा असंगत मालूम पड़ता है जबकि सारा अवध भुखमरी और अकाल का शिकार हो रहा था। लखनऊ के इस इमामबाड़े की रचना तीन स्तरों पर है। उस समय ये स्तर कहीं से मिट्टी लाकर नहीं बनाये जा सकते थे। इस बात के प्रमाण हैं कि ये सारी इमारतें पुराने सांस्कृतिक अवशेषों पर खड़ी हैं और यही

कारण है कि पूरे क्षेत्र में तमाम टीले हैं। हर टीले पर अब परवर्ती भवन खड़े हैं मगर आज भी इन टीलों में से समय-समय पर पुरानी हिन्दू सभ्यता के चिह्न मिलते रहते हैं।

आसफ़ी इमामबाड़े पर अपना तिलस्मी जाल फैलाए जो भूलभूलैया खड़ी है, वह दरअसल और ज़्यादा ख़तरनाक भूलभूलैया की मसनवी ही है जो अब ज़मीन के नीचे दफ़्न हो चुकी है। ज़मीन में समाई हुई इस भूलभुलैया के रास्ते आज भी मौजूद हैं। लेकिन अब उनमें उतर कर जाना कभी मुमकिन नहीं हो सकता क्योंकि उन रास्तों के प्रवेश-मार्ग, एक ज़माना हुआ, हमेशा-हमेशा के लिए बन्द कर दिये गये।

इमामबाड़े के पार्श्व में बनी हुई जो एक प्राचीन बावली है, वह इस भव्य भवन से कोई साम्य या सम्बन्ध नहीं रखती बल्कि उसकी रूप-रेखा मे उचित संशोधन करके उसे जबरदस्ती इस इलाक़े में जोड़ दिया गया है। बावली ठेठ हिंदू परम्परा का जलाशय है जो राजपूती स्थापत्य कला का प्रतीक मानी जाती है। बाद में लखनऊ में बने सैकड़ों इमामबाड़ों में कहीं इस चलन को दोहराया नहीं गया। ब्रिटिश काल में भी इस बावड़ी को ही ख़ज़ानए ग़ैब तक पहुँचने का रास्ता माना जाता रहा और यह बात हमेशा से मशहूर ही है कि लखनऊ का सबसे बड़ा ख़ज़ाना उसी के अन्दर छिपा है। कहते हैं कि ख़ज़ाने की चाबियों का गुच्छा उसी बावली में फेंक दिया गया था। जिसके साथ तांबे पर बना हुआ ख़ज़ाने का नक़्शा भी संलग्न था। ब्रिटिश शासनकाल में इमामबाड़े के नीचे उतरने और डुबकी लगाने के कई प्रयास किये गये और उसमें बराबर लोगों की जानें जाती रहीं। इन दुर्घटनाओं के बाद से ही बावली में लोहे का तवा डाल दिया गया और सुरंग का मुँह चुन दिया गया। अब तो उस ख़ज़ानए ग़ैब के ऊपर नवाब आसफ़ुद्दौला और उनके प्रिय वास्तुकार क़िफ़ायतुल्ला की क़ब्रें बनी हैं। ये भी कहा जाता है कि दूसरी क़ब्र बेगम शम्सुन्निसा की है। उन्हीं दोनों को उस मायापुरी का अदृश्य पहरेदार कहा जा सकता है। आसफ़ुद्दौला के समकालीन लोगों ने उनके निःसंतान होने को भी पराये धन के हरण से जोड़ा है।

लखनऊ के नवाबों की आठ गद्दियों में 'ख़ज़ानए अवध' तरह-तरह की करवटें बदलता रहा। नवाब सआदत अली ख़ां जैसे कंजूस हाकिम ने अपनी ज़िन्दगी में ख़ज़ाने की माँग को मोतियों से ख़ूब सँवारा तो उनके अय्याश पोते नसीरुद्दीन हैदर ने अवध के ख़ज़ाने की इस दौलत को आतिशबाज़ी की तरह उड़ाकर ख़ाक कर दिया। अगर बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने ख़ज़ाने की रक़म से अंग्रेज़ों की मुट्ठियाँ गर्म कीं तो मुहम्मद अली शाह उसी सम्पदा से सैयदों और मोमिनों के दामन भरते रहे।

जब अवध के आख़िरी नवाब वाजिद अली शाह का ज़माना आया, तब

सल्तनत के हालात अच्छे नहीं थे, अवध के ख़ज़ाने की दौलत बँट-बँटकर क़ैसरबाग़ के महलों में आने लगी थी। बादशाह बचपन से ही चंचल-चित्त थे। उनके बुज़ुर्ग वज़ीर इमदाद हुसैन ख़ां उर्फ़ अमीनुद्दौला साहब उनकी नस-नस से वाक़िफ़ थे। चूँकि बादशाह हर घड़ी रास-विलास में डूबे रहते थे, इसलिए वज़ीरे आला उनके बाप के ख़ज़ाने को उनकी नजर से हर कोशिश दूर रखते थे। कहते हैं कि जाने आलम एक बार इस बात पर मचल गये कि वह अपने बाप-दादों का ख़ज़ाना देखेंगे। उनकी इस अभिलाषा पर वजीरे आजम बादशाह की आँखों में पट्टी बाँधकर उन्हें जमीन के अन्दर बने हुए उन तहख़ानों में ले गए जहाँ सात पीढियों की जमा-पूँजी और माल-असबाब के अंबार लगे हुए थे।

सुनते हैं, दिन के ठीक बारह बजे छतर मंज़िल के सुनहरे छत्र की परछाईं दरिया में जिस जगह पड़ती थी, उसी जगह में गोमती के नीचे से होकर ख़ज़ाने तक पहुँचने का रास्ता बना हुआ था। बादशाह ख़ज़ाने में रखे हुए बहुमूल्य सामान को देखकर चकित रह गये। वजीर आज़म के इस आग्रह पर कि वह अपने पुरखों के दौलतख़ाने में से ख़ाली हाथ न लौटें, वहाँ से निकलते वक़्त बादशाह अपने साथ ये तीनों चीजें लेते आए—एक हीरों की शतरंज, एक जवाहरातों की छड़ी और एक पन्ने की कटोरी। ये तीनों बेशक़ीमती सौग़ातें बादशाह की ख़िदमत में अरसे तक रहीं और आनी-जानी माया की तरह देखते ही देखते इधर-उधर हो गयीं।

नवाब वाजिद अली शाह हीरों की शतरज बेगम हजरतमहल के साथ खेलते थे। और इसमें कोई शक नहीं कि मोहरों की चाल और सल्तनत की देखभाल के मामले में बेगम उन्हें मात दे गईं। और वह अनमोल शतरंज धीरे-धीरे उनकी अमानत बन गई। सन् १८५६ में जब बादशाह अवध की गद्दी से उतार दिये गये और उन्हें लखनऊ छोड़कर कलकत्ता जाना पड़ा तब वह जवाहरातों की छड़ी और पन्ने की कटोरी अपने साथ लेते गये। अवध राज्य की नाव डूब जाने के बाद ये तीन निशानियाँ आहिस्ता-आहिस्ता अपने वारिसों के हाथ से बेहाथ हो गयीं।

१८५७ के ग़द्र के बाद हज़रतमहल को नेपाल में पनाह लेनी पड़ी और उन्हें उम्र भर नेपाल नरेश के संरक्षण में रहना पड़ा। इस अहसान के बदले में उन्होंने हीरों की शतरंज नेपाल के राणा को बतौर तोहफ़ा दे डाली। भारत में ब्रिटिश हुकूमत के दौरान जब किंग एडवर्ड प्रिंस आफ़ वेल्स हिन्दुस्तान आये तब मटिया-बुर्ज कलकत्ता में रहने वाले नवाब वाजिद अली शाह ने उन्हें जवाहरातों की छड़ी नजराने में दे दी और इस तरह वह ब्रिटिश म्यूज़ियम के पिंजरे में क़ैद हो गई।

अवध के इस बदनसीब बादशाह की मुश्किलें और मुफ़लिसी जिन दिनों हद से बाहर हो रही थी उन दिनों उन्होंने उस असली पन्ने की कटोरी को कलकत्ते के मणि बाज़ारों में बिकने के लिए भेजा था मगर अफ़सोस कि कोई जौहरी उस कटोरी की क़ीमत अदा करने की हैसियत नहीं रखता था इसलिए वह कटोरी

बाजार की हवा खाकर लौट आई। आख़िरकार झुँझलाहट और ग़ुस्से में आकर नवाब साहब ने वह कटोरी ज़मीन पर दे मारी जिसके टुकड़े-टुकड़े हो गये और फिर वो पन्ने के टुकड़े रतनफ़रोशों के हाथ बिकने लगे। गहरी झलक वाले वो पन्ने उत्तर भारत में दूर-दूर तक बिके। आज भी लखनऊ के जौहरियों में 'कटोरी का पन्ना' कहकर पन्ने की सबसे कीमती क़िस्म बेची और खरीदी जाती है।

वाजिद अली शाह के वक़्त में शाही ख़ज़ाने के ख़ज़ांची (की आफ़ वेल्थ) महमूद अली ख़ां उर्फ़ मिफ़्तुद्दौला साहब रहे हैं। ये फ़तह अली ख़ां के पोते थे, जो किसी जमाने में हिन्दू खत्री से मुसलमान हो गये थे। इस ख़ानदान ने कई पीढ़ियों तक नवाबी ख़ज़ाने की ख़िदमत और देखभाल की है। मिफ़्तुद्दौला के जैसा स्वामि भक्त और वफ़ादार ख़ज़ांची नवाबी के इतिहास में दूसरा नहीं हुआ। इनका कुनबा जिस महलसरा और बारादरी में रहता था, उसके खँडहर की बुनियाद पर आज लखनऊ का क्वीन्स कालेज खड़ा हुआ है। इन इमारतों के साथ ही उस ज़माने की एक मस्जिद आज भी सड़क के किनारे बाक़ी है।

बादशाह के कलकत्ता-प्रवास के बाद महमूद अली ख़ां लखनऊ में १८५७ तक रहे। वह बेगम हज़रतमहल के साथ नेपाल की सरहद तक उन्हें छोड़ने भी गये थे। मिफ़्तुद्दौला के अनुसार बादशाह की सम्पत्ति में लखनऊ शहर के बावन महल और छप्पन बाग़ थे। सोने की पचास लाख मोहरें ख़ज़ाने में थीं और इस प्रकार वाजिद अली शाह ५४ करोड़ रुपये की दौलत के मालिक थे।

लखनऊ में १८५७ के बाद बेतहाशा लूट हो रही थी, जिसे देखकर मिफ़्तुद्दौला ने ख़ज़ाने के बारे में अपने मुँह पर ताले डाल दिये थे। क़ैसरबाग़ को लूट कर आठ हज़ार बैलगाड़ियों में रनिवास का बेशक़ीमती सामान भरा गया था, जिसमें से तीन हज़ार गाड़ियाँ महाराजा नेपाल को भेज दी गयी थीं और पाँच हज़ार बैलगाड़ियों का माल-असबाब पानी के रास्ते बरतानिया रवाना कर दिया गया। लखनऊ के प्रसिद्ध चाइना बाज़ार दरवाज़े के पास बनी हुई चाँदी वाली बारादरी में से पाँच सौ मन ख़ालिस चाँदी की रुपहली चद्दरें अंग्रेज़ लोग उतार ले गये। क़ैसरबाग़ की ज़ुमुर्रद में ज़ड़ी हुई संगमरमर की बारादरी बनारसीबाग़ पहुँचा दी गई। जिसमें से ज़ुमुर्रद निकालकर अंग्रेज़ अधिकारियों ने अपनी जेबें भरी और बारादरी के फूल-बूटों में रंगीन मसाले भर दिए गए।

मिफ़्तुद्दौला अंग्रेज़ों से शाही ख़ज़ाने को बचाने के लिए सारे शहर में आँख-मिचौली खेलते रहे। शहज़ादा बिरजीसक़द्र के मददगारों में होने के कारण फिरंगियों ने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया था और गोंडा में क़ैद रखा था। बाद में जब यह ज़ाहिर हुआ कि मिफ़्तुद्दौला कोई मामूली हस्ती नहीं है, बल्कि वही ख़ज़ानए अवध की असली चाबी है, तो उसे अंग्रेज़ अफ़सर रिहा करके अपने साथ लखनऊ ले आये। वक़्त के ये आसार देखकर मिफ़्तुद्दौला को कुछ और न सूझा,

उसने ख़ज़ाने की चाबियों को लक्ष्मण टीले के पास एक कुण्ड में फेंक दिया जिसमे गोमती का पानी आता-जाता था।

अंग्रेज़ों ने उसे हर तरफ़ से रिझाने-मनाने की कोशिशें कीं। लाखों की जागीर उसके नाम लिख देने का वायदा किया। जब वह किसी तरह क़बूलने को राजी न हुआ, तब उसे किश्ती में बिठा कर नदी पर ले गये और तमाम तरह की यातनाएँ देकर उससे ख़ज़ाने का पता पूछने की कोशिश करतेरहे। लेकिन कुछ हासिल न हुआ। ब्रिटिश अधिकारी मिफ़्तुद्दौला को अभी मार डालना कुछ अक़्लमन्दी न समझते थे, इसलिए बराबर उसे समझा लेने की कोशिशें करते रहे। इधर मिफ़्तुद्दौला उस दबी दौलत का पता देने को राज़ी नहीं होता था। उसका अनुमान था कि लखनऊ के छोटे ख़ज़ानों में भी २२ करोड़ रुपये हैं जिसका रास्ता मूसाबाग़ की बारादरी से है। इसी तरह का एक ख़ज़ाना बुनियाद मंजिल के पास भी बताया गया है। बड़े ख़जाने के बारे में तो उसका कहना था कि उसमें सोने की इतनी मोहरें हैं कि अगर उन्हें क़तार से बिछा दिया जाय तो लखनऊ से कलकत्ते तक का ८०० मील लम्बा रास्ता नापा जा सकता है। जब तमाम तरकीबों से भी कुछ नतीजा न निकला, तब ब्रिटिश अफ़सरों ने उसकी ३ लाख बकाया पेंशन जब्त कर ली। उसके परिवार की परवरिश के लिए जो सरकार की तरफ़ से ३०० रुपये माहवार बँधे थे वह बन्द कर दिए गए और फिर रेज़ीडेंसी में तोप के मुँह पर बाँधकर उसे उड़ा दिया गया। सन् १९०३ की बात है जबकि मिफ़्तुद्दौला का बेटा मक़जनुद्दौला ज़िन्दा था। उसे सिर्फ़ ३० रुपये माहवार वसीक़े के मिलते थे। कहा जाता है कि वह अपने गले में एक बड़ा तावीज़ पहनता था, जिसमें मोम से मुहरबन्द कुछ काग़ज़ात रखे थे और उसमें ही ख़ज़ाने से संबंधित चार्ट और नक़्शे रखे थे।

सन् १९३६ में अंग्रेज़ों ने अवध का ख़ज़ाना ढूँढ़ निकालने के लिए कमर कस ली। बावली में पम्प लगाकर पानी खींचा जाने लगा। बड़ी बावली पातालतोड़ कुएँ से भरी होने के कारण किसी सूरत ख़ाली न की जा सकी और इस तरह अंग्रेजों के इरादे पर पानी फिर गया।

सन् १९५५ में लखनऊ के प्रसिद्ध मुहल्ले 'पीर बुख़ारा' में एक नक़्शा और तावीज़ मिला, जिससे ख़ज़ाने की स्थिति का कुछ पता लगाया जा सकता था। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री पण्डित गोविन्दबल्लभ पंत से आज्ञा लेकर श्री अमृतलाल नागर के निर्देशन में जब वहाँ खुदाई जारी हुई तब ख़ज़ाने की तो फूटी कौड़ी भी नसीब न हुई, उल्टे पीर बुख़ारा साहब की खोई हुई क़ब्र वजूद मे आ गयी, जो अपने आप में कम ऐतिहासिक महत्त्व की नहीं है। किसी ज़माने में बलख़ बुख़ारा से लखनऊ आये हुए प्रसिद्ध सन्त की क़ब्र की सबसे बड़ी विशेषता है, इस पर किया गया कौड़ियों के चूने का मरमरी प्लास्टर, जो उस समय के

कलाकौशल का एक जीवन्त प्रमाण है।

लक्ष्मण टीले के पास एक पत्थर पर खुदे नुक़ूश से ख़जाने की स्थिति का एक विवरण फिर प्राप्त हुआ मगर इस बार एक दूसरी मुसीबत आ खड़ी हुई। उस नुक़ूश के इशारे पे जो मक़ाम निकलता था,उस जगह पर लाजपत नगर की घनी बस्ती आबाद हो चुकी थी। वैसे यह बड़े इमामबाड़े और छोटे इमामबाड़े के ठीक बीच में है और चौक कम्पनी बाग़ की तलहटी में बसा हुआ है। इस प्रकार इस बार भी पुरातत्त्ववेत्ताओं को हथियार डालने पड़े।

ख़जाने की खुदाई के साथ ही साथ पुरातत्त्व सम्बन्धी छानबीन समानान्तर रूप से चलती रही और इसमें कुछ संदेह नहीं कि नागर जी के ही हाथों बड़े अनमोल ख़ज़ाने अस्तित्व में आते रहे। आज नागर जी के अथक प्रयासों और प्रेरणा से लखनऊ के इतिहास का सीधा सम्बन्ध गुप्तकालीन सभ्यता से जुड चुका है, जो लखनऊ अपने नवाबी दौर के अनोखे इतिहास के लिए सदा से मशहूर रहा है, उसकी सभ्यता और संस्कृति का सिलसिला अब बहुत पुराना सिद्ध हो चुका है। यहाँ के शीतला मन्दिर से शुंग कालीन प्रतिमाएँ मिली हैं। यहाँ के गउघाट के निकट रोमन सभ्यता के खँडहर मौजूद है। लक्ष्मण टीले पर गुप्तकालीन ईंटों का कुआँ अब भी है, तो हुसैनाबाद के पास भी कुषाण कालीन ईंटों का बना हुआ एक कुआँ मिलता है। बड़ी काली का मन्दिर कैसे बौद्ध मठ से वैष्णव पीठ हुआ और फिर किस प्रकार देवी मन्दिर बना, यह सबअपने आप में एक अटूट इतिहास लिए हुए है। यहाँ के श्मशानी देवी के मन्दिर का गोमती तट से बड़ा पुराना लगाव रहा है और आज भी वहाँ कौड़ियाँ प्रसाद में मिलती हैं, भले ही गोमती वहाँ से बहुत दूर खिसक गई है।

जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव एवं शाक्तों के देवालय, शेख़ों की दरगाहें और सैयदों के इमामबाड़े पुरातत्त्व की अनूठी सम्पदाएँ बन चुकी हैं। लक्ष्मण टीला जो कभी कोशल राज्य-सीमा का पश्चिमी दुर्ग विशेष माना जाता रहा है, मुग़लकाल तक प्रसिद्ध तीर्थ रहा है। इस तीर्थ के शेष मन्दिर वाले पाताल पर्यन्त कुएँ में श्रद्धा से लोग सोने-चाँदी के सिक्के आदि चढ़ाते आए हैं। उसी मन्दिर के स्थान पर औरंगज़ेबी मस्जिद बन जाने के बाद से ये प्रथाएँ समाप्त हो गईं। इसके बाद भी अंग्रेज़ों ने अपने शासनकाल में लक्ष्मण टीले वाले गुइन गार्डेन के कुएँ मे पम्प लगाकर उस ज़रो-दौलत को ढूँढ़ निकालने का असफल प्रयास किया था।

लक्ष्मण टीले की खुदाई से प्राप्त मिट्टी की हँड़ियाँ, हड्डी के तीर, फलक, खिलौने, विभिन्न कालों के मृण्पात्रों के टुकड़े, ईसवी और ईसापूर्व के विभिन्न कालों की ईंटें आदि मिल चुकी हैं। नागर जी के निजी संग्रहालय में हजारों साल पुरानी ईंटों से लेकर जो सबसे नई ईंट रखी है वह बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के ज़माने की है।

फ़रियादे दुश्मन

७ फरवीरी, १८५६ का दिन अवध में नवाबी सल्तनत के पतन का दिन था। इस दिन नवाब वाजिद अली शाह के सर से ताज उतार लेने का काम जनरल आउट-रम के गोरे हाथों ने किया था। जिस वक़्त अवध सल्तनत को कम्पनी सरकार ने ज़ब्त किया, इंग्लैण्ड में महारानी विक्टोरिया की हुकूमत थी और कम्पनी सरकार बरतानिया की शतरंज थी।

अवध का शाही घराना अब लखनऊ का दामन छोड़कर गार्डेन रीच (कलकत्ता) पहुँच गया था। जो लोग कभी गोमती के किनारे सुनहरा बुर्ज में रहा करते थे वे अब हुगली के किनारे मटियाबुर्ज में थे। वहाँ नवाब अपनी ख़ास-महल, चन्द प्रधान बेगमों और बच्चों के साथ इस सितम को किसी तरह बर्दाश्त करने की सोच रहे थे लेकिन उनकी माँ जनाबे आलिया मलिका किश्वर साहिबा को किसी तरह सब्र नहीं था। वह अपने बेटे का हक़ वापस दिलाने के लिए हर पल बेचैन थीं। उन्होंने सोचा कि अवध पर डाका डालने वाली कम्पनी सरकार की शिकायत मलिका विक्टोरिया से की जानी चाहिए। बरतानिया की हाकिम एक औरत है और साहिबे औलाद भी, इसलिए वे अपने बेटे की जागीर के लिए उनसे फ़रियाद करेंगी तो उनका दिल ज़रूर पिघल जायेगा क्योंकि माँ का दिल, माँ की ममता के तकाज़े को ज़रूर समझेगा।

मलिका किश्वर मेम्बराने पार्लियामेण्ट में मुक़द्मा पेश करने के लिए कलकत्ते से इंग्लैण्ड की तरफ़ रवाना हुईं। इस वक़्त नवाब वाजिद अली शाह बीमार थे इसलिए वो जाने के क़ाबिल नहीं थे। बादशाह के जिगरी दोस्त नवाब अहमद अली ख़ां साहब की सलाह पर मलिका किश्वर के सफ़र की तमाम तैया-रियाँ शुरू हुईं।

सफ़र की तैयारी

जिन दिनों शाही घराने के लोग लन्दन जाने की सोच रहे थे मलिका किश्वर और उनकी बहू नबाब ख़ासमहल में मनमुटाव चल रहा था, यहाँ तक की बोल-चाल भी बन्द हो गई थी। सास-बहू की ये अनबन लखनऊ से चली आ रही थी जिसका कारण यह था कि वाजिद अली शाह ने अपनी माँ के वैभव काल में उनके रुतबे में कोई कमी नहीं होने दी थी। वाजिद अली शाह की ताजपोशी के साथ ही मलिका किश्वर को मरियम मकानी (विश्वमाता) का मर्तबा प्रदान किया गया था जबकि अवध की अन्य बेवा बेगमें अपने बेटों के शासन काल में केवल जनाबे आलिया (राजमाता) ही कहलाती थीं। मलिका किश्वर के विधवा होने के बाद भी इनकी सवारी और जुलूस की शानो-शौकत में जाने आलम ने कोई कमी नहीं होने दी थी बल्कि वह ख़ासमहल आलमआरा बेगम की सवारी से बढ़-चढ़कर होता था और यही कारण थे कि मलिका और उनकी आज़म बहू में आपसी दिलशिकनी बढ़ती ही चल गई।

नवाब ख़ासमहल आलमआरा बेगम ने अपने बेटे को दादी के साथ लन्दन जाने की इजाज़त नहीं दी लेकिन बादशाह ने हुक्म देकर वलीअहद (युवराज) हामिद अली को तैयार किया। कौन विलायत जायेगा और कौन नहीं जायेगा इसके लिए शाही महल में इस्तराए देखा जा रहा था। मलिका के साथ मिर्ज़ा सिकन्दर हशमत, जरनैल साहब, मिर्ज़ा जव्वाद अली, वलीअहद हामिद अली, मौलवी मौसीउद्दीन काकोरवी मुख़्तार-ए-आम और बहरुन्निसा वग़ैरह एक सौ चालीस लोग चलने को तैयार हुए। इनमें मलिका के दोनों पोतों को छोड़कर बाक़ी सबके लिए तनख़ाहें बाँध दी गईं। सरकारी वकील को ७०० रुपये मासिक, मुंशी मीर मुहम्मद सफ़ीर को ३०० रुपये माहवार और नमाज़ पढ़ाने के लिए हाजी मुहम्मद अली को २०० रुपये माहवार पर रखा गया था।

इस ऐतिहासिक यात्रा का प्रबन्ध मिस्टर ब्रैडन ने किया और इसके लिए उनको 'जलीसुद्दौला' का ख़िताब अता फ़रमाया गया, साथ ही उन्हें वलीअदह साहब का मुसाहिब होने का हक़ भी हासिल हुआ लेकिन ये हमसफ़र सबसे महँगा पड़ा था क्योंकि अंग्रेज़ बहादुर जलीसुद्दौला को दस लाख रुपये सफ़र-ख़र्च पर तैयार किया गया था।

अवध के लुटे हुए बादशाह की तरफ़ से लाखों रुपये के तोहफ़े और नजराने ब्रिटेन की महारानी के लिए भेजे गये। ये कुल सौगाते सन्दूक़ों में बन्द थीं जिनमे अल्मास का एक हार याकूत और ज़ुमुर्रुद का एक गंगा-जमुनी हार, जवाहरातों जड़ी एक कंघी, सच्चे मोतियों की माला, बेहतरीन अँगूठियाँ और क़ीमती गंगा-जमुनी काम की पोशाकें रखी गयी। इसके अलावा चाँदी के थाल में तीस हज़ार

रुपया सुधातु के सिक्कों में रखा गया था।

कलकत्ते मे इस यात्रा की ज़बरदस्त योजना तैयार की गई थी फिर भी सफ़र की ख़बर अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल को कानोकान न होने दी गई क्योंकि डर था कि वह इस यात्रा को रोक देंगे। इसी ग़रज़ से मलिका किश्वर रात के ठीक बारह बजे महल से निकली। उनके चलते वक़्त महल में कोहराम मच गया। ख़ासमहल से उनकी राहरस्म बन्द थी लेकिन जब वह ख़ुद चलकर आज़म बहू से मिलने गई तो वह अपनी सास से गले मिलकर ख़ूब रोई। बादशाह इस वक़्त बरामदे के अँधेरे कोने में खड़े चुपचाप आँसू बहा रहे थे और माँ के चलते वक़्त भरे हुए गले से बड़ी मुश्किल से ख़ुदा हाफ़िज़ कह पाये थे।

१६ जून, १८५६ की सुबह जब यह कारवां समुन्दर की सतह पर रवाना हो गया तब गवर्नर-जनरल को इस बात की ख़बर दी गई जिसकी उन्हें बहुत शिकायत रही।

रियन नामक प्रसिद्ध जहाज़ से ये टोली हिन्दुस्तान से चली थी। इस जहाज़ को ये लोग 'बंगाला' कहकर पुकारते थे जो बंगाल की खाड़ी को चीरता हुआ चला जा रहा था। जिस बेगम की परछाईं भी किसी को देखना नसीब न थी और जिसका लखनऊ दरबार में सजधज कर पहुँचना भी कभी दुश्वार था, वह माँ आज अपनी औलाद के हक़ के लिए सात समन्दर पार कर रही थी। सफ़र का पहला जहाज़ २७ जून, १८५६ को लंका में बदल दिया गया जिससे १२ जुलाई को ये सब अदन के बन्दरगाह तक पहुँचे। वहाँ से ये लोग स्वेज़ के किनारे उतरे। इस वक़्त तक स्वेज़ नहर का निर्माण नहीं हुआ था इसलिए स्वेज़ बन्दरगाह से सिकन्दरिया का तीस मील का फ़ासला ज़मीन पर तय करना था लेकिन इसी बीच एक घटना घट गई। मलिका किश्वर के साथ ५०० संदूक़ थे, जिनमें उनकी ज़रूरत का सामान, माल-असबाब और तमाम दौलत भरी हुई थी। उनमें से एक सन्दूक़, जिसमें बेशक़ीमती जवाहरात और १० लाख रुपये नक़द थे, मिस्र में कहीं गुम हो गया। एक करोड़ की मालियत का ये बक्स शायद समन्दर में ही गिर गया हो ऐसा सोचा गया जिसके लिए एक से एक गोताख़ोर पानी में उतारे गये लेकिन वो गया माल वापस नहीं आया।

तीन हफ़्ते तक मलिका स्वेज़ के 'पंचघट' होटल में ठहरी जहां उस ज़माने में ५० रुपये रोज़ ठहरने के देने पड़ते थे। मिस्र का बादशाह अवध की मलिका से मिलना चाहता था लेकिन अंग्रेज़ों के डर से न वो मुलाक़ात के लिए 'पंचघट' में आया और न वहाँ बेगम का कोई स्वागत-सत्कार ही हुआ। यहाँ तक कि वहाँ के ब्रिटिश रेज़ीडेंट ने भी मलिका से मिलने की कोई ज़रूरत न समझी।

सिकन्दरिया से ये लोग 'इण्डस' नाम के जहाज़ से चले। समन्दरी सफ़र और भूमध्य सागर की तेज़ हवाओं से मलिका के बूढ़े शरीर को बहुत कष्ट उठाना

पड़ा। वलीअहद भी बड़े सुन्दर और सुकुमार थे इसलिए उन्हें भी कुछ कम तक़-लीफ़ नहीं उठानी पड़ी। इसी बीच १६ अगस्त, १८५६ को मुंशी मीर रफ़ी जिब्राल्टर में परलोक सिधार गये।

इंग्लैण्ड

जब जहाज़ इंग्लैण्ड के सोथैम्परन बन्दरगाह पर पहुँचा तो २० अगस्त, १८५६ का दिन था। मेजर बर्ड इंग्लैण्ड में मलिका के स्वागत की बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कर रहे थे। ये असिस्टेंट रेज़ीडेंट होकर कभी लखनऊ का पानी पी गये थे और उन्हें अवध के शाही ख़ानदान से बड़ा लगाव था इसलिए इंग्लैण्ड में वे मलिका के सेक्रेटरी बन गये। उनकी लिखी प्रसिद्ध पुस्तक 'अवध में लूट' उनके दिल का आईना है। जहाज़ से उतरने के बाद मलिका का पाँव उन्होंने ज़मीन पर नहीं पड़ने दिया। बन्दरगाह से ही क़ालीन बिछवा दिए गए थे। उनके परदे का मुना-सिब इन्तजाम किया जा चुका था। दोनों तरफ़ से क़नातों के परदे लगे थे। ज़नानी सवारियाँ जब क़नातों के बीच से चल रही थीं तो तमाशबीनों का मेला लग गया। मेजर बर्ड साहब ने 'रायल पार्क' होटल के बरामदे में मलिका के स्वागत में ऐसा अच्छा भाषण दिया कि उस समय उपस्थित पूरी अंग्रेज़ जनता नवाब वाजिद अली शाह की तरफ़दार बन गई थी।

२० अगस्त से १० दिनों तक ये लोग सोथैम्परन के 'रायल पार्क' होटल में ठहरे जिसका किराया १२०० रुपये अदा किया गया। इस होटल में अवध वालों की शानो-शौकत का बड़ा चर्चा रहा। जनरल मिर्ज़ा सिकन्दर हशमत साहब से मिलने के लिए बड़े-बड़े लार्ड तशरीफ़ लाने लगे और ऊँचे घरानों की औरतें मलिका से मुलाक़ात करने के लिए आयीं।

३० अगस्त '५६ को रेलगाड़ी से इन लोगों ने लन्दन तक का सफ़र किया। ३१ अगस्त को पूरा दल लन्दन पहुंच गया। वहाँ ५००० रुपये मासिक किराये पर हार्लो हाउस को लिया गया क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इन लोगों का हाल तक नहीं पूछा। लन्दन में जो कुछ हिन्दुस्तानी मुसलमान मौजूद थे वो मलिका से मिलने आये थे। इनमें सूरत (गुजरात) के मीर जाफ़र अली, मद्रास के मुंशी हैदरजंग, नागपुर के मौलाना गुलाम ख़ां वकील, फ़रज़न्द अली और हार्मुसजी पारजी के नाम उल्लेखनीय हैं, इनमें अन्तिम दो को तो शाहे अवध ने ख़ुद भेजा था। कम्पनी सरकार ने अवध के बादशाह के ख़िलाफ़ जो अवध ब्लू बुक (अभियोग-पुस्तिका) तैयार की थी वो लन्दन में मलिका को प्रदान की गई। मलिका किश्वर ने उसे तुरन्त अपने बेटे के पास कलकत्ते भेज दिया। बादशाह ने उसका उत्तर छपवाकर उसकी ३०० प्रतियाँ और ४ लाख रुपये अपनी माँ के पास वापस भेजे जिसके साथ महारानी विक्टोरिया और कम्पनी के नाम एक खत भी था।

जिन दिनों अवध की मलिका लन्दन में थीं मुहर्रम का महीना चल रहा था। ख़ैर, लन्दन का मुहर्रम से क्या वास्ता था। लखनऊ वालों का मुहर्रम वहाँ भी हो गया क्योंकि बनते काम बिगड़ रहे थे। जितने लोग थे उतनी रायथीं। कोई कम्पनी को ख़त देने की बात सुझाता तो कोई विक्टोरिया से तअल्लुक़ बढ़ाने की बात करता था। जनरल हशमत और वलीअहद कम्पनी सरकार के निर्देशकों से बात करने हार्ली हाउस पहुँचे मगर कोई बात नहीं बनी।

विक्टोरिया से भेंट

बकिंघम पैलेस में मलिका किश्वर हर आठवें दिन दरबार करती थीं। लेकिन इसके बावजूद भी मलिका और महारानी विक्टोरिया के बीच वार्ता १० महीने तक मुमकिन नहीं हुई। जितना रुपया साथ गया था या जो कुछ बाद में भेजा गया था सब पानी की तरह बह गया। यहाँ तक कि मलिका किश्वर को अपने ज़ेवर भी बेचने पड़ गये। इन्तज़ार की ये मुद्दत कोई मामूली नहीं थी और इसने अवध वालों के हौसले तोड़ दिये।

४ जुलाई, १८५७ की सुबह पौने नौ बजे विक्टोरिया ने एक ख़ास जनाना दरबार आयोजित किया जिसमें अवध की मलिका बुलाई गईं। उन्नीसवी सदी का यह विशेष दरबार ब्रिटिश राजमहल का ऐतिहासिक दरबार माना गया है। उस वक़्त बरतानिया की महारानी के दरबार में ८ औरतें ऐसी थीं जो हिन्दुस्तानी ज़बान से वाक़िफ़ थीं। उनकी ही मदद से समुन्दर के आर-पार की ये मलिकाएँ आपस में बातचीत कर सकीं।

शाहाने अवध की तरफ़ से जो सौग़ातें गई थीं वह सब नज़र की गईं। महल से निकल राजकुमार एडवर्ड आए जो १२ बरस के थे, मलिका किश्वर ने उन्हें अपनी गोद में बिठाकर बड़े प्यार से चूमा और अपने गले का एक बेशक़ीमती हार उतारकर उन्हें पहना दिया। मज़ा ये कि इंग्लैण्ड की महारानी ने बेगम से कोई मतलब की बात नहीं की, सिर्फ़ उनके समुन्दरी सफ़र का ब्योरा सुनती रहीं और बाल-बच्चों की ख़ैरियत पूछती रहीं। इस वार्ता के बाद मलिका विक्टोरिया ने एक हफ़्ते बाद मिलकर बात करने का वायदा किया। ये लोग अपने विलायत-निवास के दौरान किसी प्रकार का मांस नहीं खाते थे क्योंकि मोमिन मलिका और शाह-ज़ादे के सुअर के मांस से बचने का यही एक तरीक़ा था। पहली मुलाक़ात के तीसरे दिन महारानी विक्टोरिया ने जनरल हशमत व वलीअहद और मौलवी मौसी-उद्दीन को दिन के खाने पर बुलाया। जब तक बेगम से दूसरी मुलाक़ात करने का मौक़ा आया तब तक हिन्दुस्तान में ग़द्र हो जाने की ख़बर लन्दन पहुँच गयी। कानपुर में अंग्रेज़ों के सामूहिक क़त्ल की सूचना मलिका विक्टोरिया के कानों तक पहुँचते ही ब्रिटेन के लोग उत्तेजित हो गये। मेजर बर्ड मलिका की पैरवी करते रहे

लेकिन कोई लाभ न हुआ। सन् '५७ की क्रान्ति ने मलिका के फ़ैसले का रुख़ बदल दिया। अब मलिका किश्वर अपना दाँव हार चुकी थी और साथ के लोग भी हिम्मत हार गये थे। मिस्टर ब्रैंडेन (जलीसुद्दौला) अपने पद से अलग हो गये। मौसीउद्दीन साहब ९० रुपये मासिक पर अलग कमरा लेकर लन्दन मे रहने लगे। हिन्दुस्तान से और भी ख़तरनाक ख़बरें ब्रिटेन पहुँच रही थी। अब तक वाजिद अली शाह फ़ोर्ट विलियम मे क़ैद हो चुके थे। इन सब बातों का मलिका किश्वर के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पड़ा। मलिका को रक्तस्राव का रोग था और उस पर से लन्दन के पानी ने उनका जिस्म और बाँध रखा था। इन सब बातों को सोचकर मलिका ने फ्रांस और मिस्र होकर हिन्दुस्तान लौटने का फ़ैसला किया।

वापस होते वक़्त पेरिस में उनका मर्ज़ बहुत बढ़ गया और हालत ख़राव हो गई। इस बीमारी के आलम मे पीपी नाम की एक नर्स ने इनकी तीमारदारी की। २४ जनवरी, १८५७ को दोपहर में उसी नर्स की गोद में मलिका का इन्तक़ाल हो गया। मलिका की मौत की ख़बर सुनते ही जनरल सिकन्दर हशमत और वलीअहद लन्दन से भागे हुए पेरिस आये। बेगम के दफ़्न होने का इन्तजाम पर्दे में ही हुआ। उनके जनाज़े में शाहे ईरान और रोम के सुल्तान ने भी शिरकत की थी। सैनिक सम्मान के साथ वह पेरिस में ही दफ़्न हुई। उनकी क़ब्र के लिए ३०,००० की ज़मीन ख़रीदी गई और दस हज़ार का संगमरमर लगाया गया। फ्रांस की सरकार ने मलिका के मज़ार के निकट एक मस्जिद बनवाई। मलिका की क़ब्र के पास ही मिर्ज़ा सिकन्दर हशमत और उनकी पोती रफ़तआरा बेगम को भी बाद मरने के दफ़नाया गया।

इस तरह मुसीबतों के तूफ़ान ने इस शाही खेमे को तितर-बितर कर दिया। मलिका की सदा संगिनी बहुरिन्निसा मक्के को चली गई। नवाब मेंहदी अली कर्बला चले गये। बाद में मुंशी क़मरुद्दीन, मौलवी मौसीउद्दीन और वलीअहद मिर्ज़ा हामिद अली बहादुर हिन्दुस्तान वापस लौट आये।

अपनी माँ, भाई और भतीजी की मौत का जाने-आलम को बड़ा सदमा पहुँचा। उन्होंने अपने परिवार के प्रदेश-प्रवास की इस मुद्दत को बड़ी बेक़रारी से काटा और ख़ुद लिखा है—

लखनऊ बेक़स हुआ, हज़रत जो लंदन को गये।
हम यहाँ नालां हैं, वह फ़रियादे दुश्मन को गये॥
फ़सले गुल कब आयेगी, कब होंगे आकर नग़मो सजा।
एक मुद्दत हो गई मुर्ग़ाने गुलशन को गये…॥

आख़िरी बेगम

पुराने लखनऊ में अकबरी दरवाज़े के क़रीब एक ड्योढ़ी है जिसे चौधराइन का इमामबाड़ा कहा जाता है। इस बड़ी इमारत में दक्खिन रुख़ पर बनी हुई इमाम-बाड़े की मकानियत को छोड़कर कुल ड्योढ़ी की शक्ल बदल चुकी है। नौतामीर दीवारों में ब्रिटिश शासन काल की १६२१ वाली ईंटें लगी हुई हैं मगर बजर किवाड़ वैसे का वैसा ही है जिसमें सवा मन लोहा फूल कीलों, छल्लों और कुण्डी में लगा पड़ा है।

इसमें कोई शक नहीं कि लखनऊ चौक की ये बस्ती तीन दशक पहले तक वारांगनाओं की बस्ती थी। ग़द्र के बाद की लखनऊ की मशहूर नाचने-गाने वालियाँ नन्हुआ-बचुआ इसी ड्योढ़ी में रहती थीं। इस रक़्क़ासा कोठी की परम्परा और भी बहुत पुरानी है। बड़ी चौधराइन, छोटी चौधराइन से पहले भी इस घराने की सदर ख़ानम हुआ करती थी जो नवाबी दरबारों और महलों में नये-नये गुल खिलाया करती थी। कहने वाले कहते है कि हज़रतमहल साहिबा यही से ले जाकर जाने आलम के परीख़ाने में पेश की गई थी।

वाजिद अली शाह के परीख़ाने में जहाँ नित नई परी के क़दम शरीफ़ पड़ते थे एक शाम मंसूर नगर की रहने वालियाँ अम्मन और अमामन नाम की कुटनी बहनों ने इस माहे नौ (हज़रतमहल) को लाकर नवाब की नज़र किया। बादशाह इस तोहफ़े पर इस क़दर लहालोट हुए कि उन्होंने उसी दम जवाहरात की अँगूठी उतारकर अम्मन के हवाले कर दी थी। इस बेनाम मगर बेनज़ीर कली को आख़िरी ताजदार ने महकपरी कहके पुकारा था।

पसीना था ख़ुशबू में उसका गुलाब।
परी थी महक उस ने पाया ख़िताब।।
(परीख़ाना—वाजिद अली शाह)

बादशाह् की निगाहों ने महकपरी में महकते फूलों को तो देख लिया था लेकिन उनकी निगाहें उन दहकते अंगारों को नहीं पहचान सकीं जो उसकी रूह में दफ़्न थे।

हज़रतमहल के वजूद को पहचानने में उनके शौहर ने ही धोखा खाया हो ऐसा नहीं है, बहुतों ने मात खायी है। नजमुल ग़नी साहब ने उन्हें फ़ैज़ाबाद से आयी उमरावजान 'अदा' कहकर ग़ज़ब किया तो तसद्दुक़ हुसैन साहब ने 'जने-ख़ानगी' कहकर फ़ुर्सत पा ली। ख़ैर···

महकपरी अपने शाहे अवध की उस अन्जुमन में बिल्कुल बेमेल साबित हुईं क्योंकि उन्हें 'इन्दर सभा' कभी एक आँख न भाई। उन्हें तो मौसीक़ी में महज़ सितार बजाने का ज़ौक़ था जो हुनर उन्होंने अपने बाप से पाया था। उनका बाक़ी वक़्त तवारीख़ की तफ़सील जानने में ख़र्च होता था। पाजेब की झनकार उन्हें क्योंकर लुभाती जबकि उनके कान गोरों के क़दमों की आहटों पर लगे हुए थे।

जब महकपरी के पैर भारी हुए तो क़ैसरबाग़ की महलसरा में डोमिनों की ढोलक बजी और उन्हें परदानशीन कर दिया गया। बिरजीसक़द्र की पैदाइश ने उन्हें इफ़्तख़ारुन्निसा (नारियों का गर्व) बेगम का नाम दिया। रहने के लिए महल मिला और महलदार हुए 'मम्मू ख़ां'। १३ फ़रवरी, १८४७ को जब वाजिद अली शाह् की तख़्तनशीनी का जश्न मनाया गया तो इनको नवाब हज़रतमहल साहिबा का ख़िताब मिला। बेगम के नाम मोहम्मदीनगर और जलालाबाद की जागीर लिखी गई। उनके बेटे को गौरय्या और चन्दौली का इलाक़ा दिया गया, इसके साथ ही ठाकुर प्रसाद जी उनके मुन्तज़िम दीवान मुक़र्रर हुए। हज़रतमहल एक बेटी की माँ भी बनीं, नाम था सीमाआरा नवाब कनीज़ जाफ़री बेगम, मगर ये लड़की लड़कपन में ही अल्लाह् को प्यारी हो गई।

जब तक वाजिदअली शाह की हुकूमत रही बेगम हज़रतमहल की प्रतिभा को उभरने का कोई मौक़ा नहीं मिला। भोले बादशाह के रास-रंग और चालाक अंग्रेज़ों के दांव-पेच, इन दो हाथों ने मिलकर अवध की नैया डुबो दी। जब अवध के ये आख़िरी बादशाह पूरी तरह बरतानिया शिकंजों मे आ गये तो १३ फ़रवरी, १८५६ को चीफ़ कमिश्नर सर जेम्स आउटरम ने उन्हें अपने पाले में घेर-कर उनके सर से ताज उतार लिया···और फिर १३ मार्च, १८५६ को जाने आलम को उनके प्यारे लखनऊ से जुदा करके कलकत्ते की तरफ़ रवाना कर दिया गया। इस वक़्त देश की स्थिति ऐसी डाँवाँडोल थी कि जिसे इस जवाबी शेर से समझा जा सकता है—

दमदमे में दम नहीं अब ख़ैर माँगो जान की
ऐ जफ़र ठण्डी हुई शमशीर हिन्दुस्तान की

(जफ़र)

ग़ाजियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की
तब तो लन्दन तक चलेगी तेग़ हिंदुस्तान की

(ज़फर)

अपने बादशाह की जुदाई लखनऊ वालों को बर्दाश्त नहीं हुई और ब्रिटिश हुक्मरानों की थोपी हुई हुकूमत के खिलाफ़ बग़ावत हो गई। इस गहमागहमी मे अग्रेजो का पैर टिकना मुश्किल हो गया। ३० जून, १८५६ को ऐसी ज़बरदस्त आग भड़की कि चनहट और रेजीडेंसी मे जंग की नौबत आ पहुँची।

अवध के इतिहास में एक बार पहले भी बादशाह नसीरुद्दीन हैदर की सौतेली माँ पादशा बेगम ने नारी शक्ति का परिचय देकर अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये थे, मगर समय और समाज ने उनका साथ नहीं दिया था। फिर भी हज़रत-महल के लिए वो एक आदर्श स्त्री थीं क्योकि वो अपने वतन, अपने अधिकार और अपनी जनता के हित के लिए गोरे अफ़सरों से भिड़ गई थी। उन्होने कम्पनी सरकार को चुनौती दे दी थी। उधर बंगाल की मुन्नी बेगम से भी हजरतमहल प्रभावित थी।

आखिरकार हजरतमहल साहिबा ने सबसे सलाह-मश्वरा करके ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ़ ६ जुलाई, १८५७ को अपने नाबालिग बेटे मिर्ज़ा रमजान अली 'बिरजीसक़द्र' को चाँदीवाली बारादरी में तख़्तनशीन कर दिया। शाम का वक़्त था और तेज बारिश भी हो रही थी मगर २१ तोपों की सलामी ने शहर में इस बात का एलान कर दिया था कि बेगम साहिबा को जनाबे आलिया (राजमाता) का पद मिल गया। नवाब शरफ़ुद्दौला मुहम्मद इब्राहीम खां उनके ख़ास वज़ीर हुए, राजा जयलाल सिंह युद्ध मंत्री बने और मम्मू खां (नसीरुद्दौला अली मुहम्मद खा) उनके दीवान कहलाए। बेगम चौलक्खी कोठी में बैठकर बड़ी कुशलता से राजकाज सँभालती थी मगर ये राजपाट सुख की सेज की सूरत नही था, काँटो-भरा रास्ता था। वो अपनी फौज के लिए तन-मन-धन से बारादरी कैसरबाग़ के तहख़ाने मे रसद जमा करवाती और हथियारों का इन्तजाम करती थीं। सिपाहियों की तनख़्वाहे बढ़ाकर उनका हौसला बढ़ाती थी जिसके लिए उन्हें अपने बेशकीमती जेवरों से भी हाथ धोना पड़ता था।

लखनऊ में फ़ैज़ाबाद के मौलवी अहमदुल्ला शाह उर्फ़ डंकाशाह या नक्कारा-शाह भी बहादुरी से अपने साथ फ़ौज लेकर लड़ रहे थे। बेगम का उद्देश्य उनका उद्देश्य था फिर भी वो अपनी गतिविधियों को इनसे अलग रखते रहे जबकि इस एकता के लिए हजरतमहल ने उनसे बड़ा अनुरोध किया था।

बेगम ने अन्य सभी बेगमों से हाथ जोड़कर बड़ी मिन्नत-ओ-ख़ुशामद के साथ अपना इरादा कहा था मगर उनकी तमाम सौतनें उन्हें ग़लत निगाहों से

देखती थीं। यहाँ तक कि कलकत्ते में बसे अपने ख़ाविन्द को ख़त लिख-लिखकर हज़रतमहल की चुग़ली करती रहीं और बेगम थीं कि उन्हें अपनी आबरू से ज़्यादा अपने वतन की आबरू प्यारी थी। ग़रज ये कि उनकी जंग जारी रही।

इस पहली जंगे आज़ादी में लखनऊ पानीपत का मैदान बन गया। चनहट, सिकन्दरबाग़, क़दम रसूल, बेगम कोठी, रेज़ीडेंसी, दिलकुशा, क़िला जलालाबाद और आलमबाग़ में ज़बरदस्त लड़ाइयाँ हुईं। देश के जांबाज सिपाही अंग्रेजी तोपों और यूरोपियन हथियारों से जूझ-जूझकर शहीद हो रहे थे क्योंकि उनके सामने बेगम साहिबा की प्रेरणा थी। ११ अगस्त, १८५७ को जनरल बरकत अहमद शहीद हुए। १५ जनवरी, १८५८ की जंग में मौलवी अहमदुल्ला शाह भी बुरी तरह ज़ख़्मी हुए। अगली ज़रब में बेगम के मुख्य सेनापति विदेही हनुमान घायल हो गये और बाद में उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया। बेगम के प्रधान मंत्री राजा बालकृष्ण २५ जनवरी, १८५८ को मारे गए।

सन् '५७ के इसी स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दुस्तानी रणबाँकुरों ने २ जुलाई, १८५७ को सर हेनरी लारेंस को बेलीगारद में अपनी गोली का निशाना बनाकर स्वर्गधाम भेज दिया। २७ सितम्बर, १८५७ को जनरल नील शेर दरवाजे के पास ज़ख़्मी हुए और मैदान में काम आए तो ११ मार्च, १८५८ को मेजर हडसन बेगम कोठी में घायल होकर कोठी हयातबख़्श में मर गया। इन ब्रिटिश बहादुर सरग़नाओं की मौत ने अंग्रेज़ सरकार को बुरी तरह हिला दिया था।

लखनऊ के इस स्वाधीनता युद्ध में एक लाख बीस हज़ार सैनिकों ने भाग लिया था जिसमें लगभग ७५ हज़ार सिपाही शहीद हो गये थे। राजभक्तों और सेनानायकों को लक्ष्मण टीले के पास वाले नीम पर फाँसियाँ दी जा रही थीं। सिर्फ़ बेगम कोठी के सहन में ८६० जवान एक साथ मारे गये थे। मगर बेगम की हिम्मत और लगन अब भी अटूट थी, यहाँ तक कि बाग़ सिकन्दरमहल में औरतें बराबर लड़ रही थीं। चक्कर वाली कोठी से लाल बारादरी तक की ज़मीन लाशों से पट गई थी।

लखनऊ में आख़िरी जंग

२५ फ़रवरी, १८५८ को गोमती के दायें किनारे पर मूसाबाग़ में इस जंगे आज़ादी का आख़िरी मोर्चा हुआ। इस लड़ाई में जनाब आलिया ख़ुद हाथी पर बैठकर आईं और अपने सिपाहियों का हौसला बढ़ाती रहीं। लेकिन इसके साथ ही हवा का रुख़ बदल गया। देश में पीढ़ी-दर-पीढ़ी से बैठ जाने वाली नैतिक कमज़ोरियों और आपसी फूट ने बेगम को विजयलक्ष्मी का मुँह न देखने दिया। बेगम के साथ जहाँ बड़े-बड़े वतनपरस्त बहादुर थे वहाँ अंगद तिवारी, मीर वाजिद अली, ख़ुर्द महल और कन्नौजी लाल जैसे ग़द्दार भी थे जिन्होंने उनके

इरादों को ख़ाक में मिला दिया। अंग्रेजों ने कुछ देशद्रोहियों के साथ अपनी कूट-नीति का लाभ उठाकर नगर में पाँव जमा लिये और क़ैसरबाग लुट गया। बेगम को विद्रोहिणी करार देकर कम्पनी सरकार ने उनकी कुल सम्पत्ति और जागीर ज़ब्त कर ली।

लखनऊ के पतन के साथ ही १ मार्च, १८५८ को उन्होंने शहर छोड़ दिया, फिर भी उनका इरादा था कि अवध के राजाओं, तअल्लुकेदारों का संगठन करके अंग्रेजों से दुबारा लड़कर वतन को आजादी दिलाएँ लेकिन उन्होंने जिस-जिस के यहाँ क़दम रखा उसे जान-माल या रियासत से हाथ धोना पड़ा। इसी डर से बहुत से राजा-रईसों ने उनका साथ देने से इनकार कर दिया।

बेगम अवध के जंगलों, गाँवों, बस्तियों और रियासतों में अपने मक़सद की मदद माँगती रहीं। जहाँ-जहाँ लोगों से वो मिलीं, अपनी उदारता और विनम्रता का अमिट प्रभाव छोड़ती गईं।

हिन्दुस्तान जब कम्पनी सरकार की हुकूमत से निकलकर विक्टोरिया की सल्तनत हुआ तो पार्लियामेंट के दोनों हाउस मे एक बिल (फॉरेन सीक्रेट कन्सल्टे-शन नं० १०००-१०३, अगस्त १८५८) पास हुआ जिसके ज़रिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हुकूमत का सिलसिला ख़त्म कर दिया गया। १ अगस्त, १८५८ को यह बिल जारी हुआ। १ नवम्बर, १८५८ को इलाहाबाद में एक बड़ा दरबार करके उसे पढ़ा गया।

इन दिनों बेगम बौंडी (बहराइच) में रहकर अपना मोर्चा तैयार कर रही थीं, तभी उन्हें मलिका टूड़िया (महारानी विक्टोरिया) के नये फ़रमान की ख़बर मिली। बेगम हज़रतमहल ने अपनी जनता को फुसलाने वाले इस फ़रमान की सच्चाई में शक किया और उसका मुँहतोड़ जवाब नए एलान में दिया।

फ़ॉरेन पालिटिकल कन्सल्टेशन—३०२२

३१ दिसम्बर, १८५८ को बिरजीसक़द्र के नाम से बेगम ने इस एलान को जारी किया।

(१) जैसा कि एलान में कहा गया है कि मलिका विक्टोरिया की हुकूमत में बेहतरी होगी, जनता इस धोखे में हरगिज़ न रहे कि कम्पनी सरकार से किसी क़िस्म की बेहतरी होगी। इसकी कोई उम्मीद इसलिए नहीं है क्योंकि वही अफ़सरान और वही महकमे ज्यों के त्यों बरक़रार हैं।

(२) रानी ने ख़ुद एलान किया है कि कम्पनी के पुराने शर्तनामों को उनकी सरकार ज्यों का त्यों क़बूल करेगी। याद रहे, कम्पनी ने धीरे-धीरे सारा हिन्दुस्तान छीन लिया है।

भरतपुर के महाराज से वादाख़िलाफ़ी करके उसका इलाक़ा

हड़प लिया गया। लाहौर का सरदार लन्दन ले जाया गया जो अब तक नहीं लौटा है। नवाब शम्सुद्दीन खां को फाँसी पर लटका दिया गया और तब अंग्रेज़ों ने टोप उतारकर उन्हें सलाम किया। पेशवा को उन्होंने पूना-सतारा से बाहर निकालकर बिठूर में डाल दिया। दक्खिन में टीपू सुल्तान के साथ भी विश्वासघात किया गया। बनारस के राजा को आगरे में क़ैद रखा गया। ग्वालियर रियासत के पुराने रवायती दस्तूरों को जब्रन बदल दिया गया। बिहार, उड़ीसा और बगाल के सरदारों के नामोनिशान मिटा दिए गए। फ़र्रुख़ाबाद के रईस को धोखा देकर उसकी जागीर छीन ली गई। बरेली, शाहजहांपुर, इटावा, इलाहाबाद, फ़तेहपुर, जौनपुर, आज़मगढ़, गोरखपुर वग़ैरह को तनख़ाह बाँटने के बहाने अवध से अलग कर दिया गया।

जो हमारे वालिद नवाब वाजिद अली शाह से मुतमइन न हुए वो हमारे साथ वफ़ादार कभी न होंगे। हम में क्या कमी है जो वो हमारा मुल्क हमें वापस नहीं देते।

जब तक 'सज़ा' का लफ़्ज़ रहेगा ये उपद्रव दब न सकेंगे।

(३) एलान में ईसाई मज़हब को सच्चा मज़हब कहा गया है और दूसरे मज़-हबों पर भी ज़ुल्म न करने के लिए कहा गया है। उस पर ये हुक्मरान हिन्दुओं और मुसलमानों के इबादतख़ानों को सड़क, पार्क वग़ैरह बन-वाने में तुड़वाते रहते है (क़दम रसूल की मस्जिद और कोठी दिलाराम के पास का मन्दिर इन्हीं के हाथों तबाह हुआ)।

ईसाई मज़हब का बीज बोने के लिए जा-ब-जा स्कूल खोले जा रहे हैं।

(४) एलान में कहा गया है कि जिन लोगों ने विद्रोह किया, विद्रोह करवाया या विद्रोहियों को पनाह दी, उन्हें सज़ाए मौत नहीं दी जायेगी मगर सोच-विचार करके उनकी ख़ता के मुताबिक़ सज़ा दी जायेगी। मतलब ये कि हर बात लिखी हुई है मगर ज़ाहिर में कुछ भी नहीं है। याद रहे कि हिन्दुस्तानी हाकिमों के मुक़ाबले में अंग्रेज़ कभी रहमदिल नहीं हो सकते क्योंकि मुआफ़ी उनके क़ानून में नहीं है।

(५) एलान में कहा गया है कि इस हुकूमत में अमन क़ायम हो जायेगा और तामीरी काम शुरू हो जायेंगे, जैसे सड़कें बनवाना या नहरें खुदवाना वग़ैरह···यहाँ ये बात क़ाबिले ग़ौर है कि हिन्दुस्तानियों को उन्होंने सड़क बनाने और नहर खोदने से ऊपर किसी अच्छे काम में लगाने का क़ौल नहीं किया···

रियाया को इस एलान के धोखे में हरग़िज नहीं आना चाहिए।

बेगम की इस शेरनी दहाड़ से बड़े-बड़े अंग्रेज़ अफ़सर उनके वजूद से घबराते थे, इसलिए उनके नाम में तरह-तरह के लांछन लगाकर उन्हें जनता की निगाह में गिरा देने की असफल कोशिशें की गईं।

मि० मैन ने हज़रतमहल के बारे में बड़ी ही अपमानजनक बातें लिखी हैं जैसे—

"दरअसल बिरजीसक़द्र मम्मू ख़ां नामक बेगम हजरतमहल के महलदार से पैदा था और जबरदस्ती बादशाह के सर मढ़ा गया। इसकी माँ पहले जब गाने-बजाने का काम करती थी उसी वक़्त से उन दोनों के बीच ये रिश्ता क़ायम था। बादशाह ने इनके रूप की क़द्र की और उन्हें दाख़िल महल कर लिया। सरकारे शाही से उन्हें मोटी रक़म मिलती रही और मम्मू ख़ां उनके महलदार बने रहे। पुराना रिश्ता चोरी-छिपे उसी तरह क़ायम था।

"उधर वाजिद अली शाह की एक और बेगम सुल्तानमहल का मीर वाजिद अली से ऐसा ही रिश्ता था। ग़रीब बादशाह इन दोनों औरतों की ऐयाशी और फ़रेब का शिकार हुआ।"

अब चूँकि बादशाह ने अपनी रचना 'हुज़्ने अख़्तर' में बिरजीसक़द्र को अपना बेटा ख़ुद क़बूल किया है, इसलिए इसमें बहस की कोई गुंजाइश नहीं रही।

अंग्रेज़ सरकार ने बाद में बेगम से पेंशन या गुज़ारा लेकर लखनऊ या कलकत्ते में रहने के लिए बहुतेरा कहा मगर बेगम राज़ी न हुईं। वो तो अपना हक़ और आज़ादी चाहती थीं। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की इस भीख को उन्होंने ठुकरा दिया, इसलिए वो देश की सीमा के बाहर महाराजा नेपाल की मेहमान बनकर काठमाण्डू में जाकर रहीं।

वहीं अप्रैल, १८७९ में जंगे आज़ादी का ये ज़बरदस्त शोला ठण्डा हो गया, जिसकी आँच से हेनरी लारेंस और हैवलाक साहब घबराते थे। तब ही तो रसेल ने स्वयं लिखा था—

"बेगम बड़ी ताक़त और लियाक़त वाली औरत है। उसने सारे अवध को अपने तख़्तनशीन बेटे का साथ देने के लिए तैयार कर लिया है और उसकी आवाज़ में वो दम है कि फ़ौजी सरदारों ने उसके बेटे की वफ़ादारी में साथ निभाने और जान गँवाने की कसमें खा ली हैं।

"बेगम ने हमारे ख़िलाफ़ कभी न ख़तम होने वाली लड़ाई का एलान किया है। वो सन्धि के शर्तनामे की शर्तों से सख़्त नाराज हैं। उनके पुरखों ने अंग्रेजों पर जो एहसानात किए हैं और जो क़र्ज़ कम्पनी सरकार को दिए हैं उसका उनको ये सिला मिला है, इस बात का उन्हें बहुत मलाल और ग़ुस्सा है।

"बेगम ने अंग्रेज़ सरकार से पेंशन लेने से इनकार कर दिया है। उनकी निगाह में पेंशन ले लेने का मतलब है कि वो अपने बेटे का हक़ छोड़ देना

चाहती हैं।

" बेगम हज़रतमहल का वजूद उसके शौहर से कहीं अच्छा था। "

और ये सच है कि बेगम हज़रतमहल हिन्दुस्तान की जंगे आजादी की प्रथम पंक्ति में अपना हक़ रखती हैं। इसीलिए विक्टोरिया के एलान का जवाब देने-वाली बेगम के स्मारक के लिए आज़ादी के बाद लखनऊ में मलिका विक्टोरिया की यादगार चुनी गई जो अब 'छतरी हज़रतमहल' कही जाती है।

यारां फ़रामोश करदंदा इश्क़

ये लखनऊ शहर था और ग़द्र का ज़माना था। नवाब वाजिद अली शाह अपने ताज-ओ-तख़्त से हाथ धोकर कलकत्ता जा चुके थे। यहाँ बाक़ी थी उनके ख़्वाबों की जन्नत, उनका क़ैसरबाग़, उनकी दौलत और उनकी बेगमें···

उसी ज़माने की एक दोपहर के वक़्त ब्रिटिश चीफ़ कमिश्नर कई अफ़सर और दो तोपें मय गोलन्दाज़ लेकर महलसरा में दाख़िल हुआ। वहाँ हिफ़ाज़त के लिए हुस्सामुद्दौला साहब तैनात थे, उनसे कहा, "मियाँ, अंग्रेज़ी फ़ौज फ़ैज़ाबाद के क़रीब आ गई है, भला इसी में है कि रास्ता छोड़ दो।"

जवाहरख़ानों का जायज़ा लेने लगे गोरों के हाथ···

२२ सन्दूक़ लाल-ओ-जवाहर, २३ ताजशाही बेशुमार नगीनेदार, तमाम तोड़े अशर्फ़ी के, तख़्तेशाही, सोने और रतन जड़े बेशक़ीमती हथियार, सोने-चाँदी के बरतन, कामदार बक्से, वेनिस और स्पेन के गढ़े गहने, पुरतकल्लुफ़, सजावटी सामान, क़ीमती क़ालीनें, बेल्जियम के झाड़-फ़ानूस, सुनहले फ्रेमों वाले आईने, बेहतरीन पेण्टिंग्स, क़लमी किताबें, ज़री कारचोब, ज़रबफ़्त और कमख़ाबी कपड़े, महँगे परचम और फिर तमाम वो चीज़ें जिनका लिखना मुश्किल है···

बेगमात महलों में चीख़ीं-चिल्लायीं, "हाय-हाय, गोरे हमारे बादशाह का घर लूटने आये हैं···"

चीफ़ साहब बोले, "शहर में जो बाग़ी फ़ौज तैयार हो गई है उसके ख़याल से ये मालोज़र हम अपनी निगरानी में लेते हैं क्योंकि और किसी से इसकी हिफ़ा-ज़त मुमकिन नहीं···"

१८ कोठियों की सजावट का कुल सामान लुट गया और इस तरह लाखों का घर लीखों का घर हो गया।

बेगम हज़रतमहल ने अपने बेटे बिरजीसक़द्र के सर पर ताज रखा था और

हुकूमत की बागडोर अपने हाथों में रखी थी। अंग्रेजों को भला ये कब बर्दाश्त होता !

जंग जारी थी। जानें जा रही थीं, ख़ून बह रहा था और मौलवी डंका शाह अंगारे उगल रहे थे···

जनरल आउटरम ने मिर्ज़ा अली रज़ा कोतवाल के ज़रिये पयाम कैसरबाग़ भेजा जनाब आलिया (हज़रतमहल साहिबा) की ख़िदमत में, उनके नायब शरफ़ुद्दौला मुहम्मद इब्राहीम ख़ां को दरबारे बिरजीसक़द्र में—

"आपको आपका हक़ मिलेगा, ये लड़ाई ख़त्म कर दीजिए। हम लखनऊ शहर से बाग़ियों को निकाल देंगे, लेकिन आपका हाथ न रहे, साथ ही आपके घर-वालों को जो कलकत्ता और लन्दन चले गये हैं, लखनऊ बुला लिया जायेगा।"

नये बादशाह थे कि कुछ न समझे और ज़रा न माने। कहा, "कल धावा होगा बेलीगारद पर···

"हम को ख़ूब मालूम है, बेफ़ौज समझकर मिर्ज़ा मुन्नाजान की तरह हमें गिरफ़्तार करके ले जाया जायेगा।"

आखिर अंग्रेज़परस्त कोतवाल घर लौट गया—ये जानकर कि अब सब की मौत है, शहर में क़यामत अनक़रीब है···

अगली सुबह मुनादी हुई, "रियाया बदहवास और परेशान न हो, गोरे मारे जा रहे हैं और जो बाक़ी हैं वो भी तमाम हुए जाते हैं···"

किसी ने किसी की बात को कान नहीं दिया। वही ऐल-फैल और तुफ़ैल मचा रहा। दूसरे दिन बाग़ी फ़ौज जमा हुई और दरिया किनारे गऊघाट से धावा बोल दिया यह कहते हुए कि "आज क़ैसरबाग से फ़िरंगियों का साया भी दूर कर देंगे वरना मुँह न दिखायेंगे।"

चौलक्खी कोठी में हज़रतमहल साहिबा तक ख़बर आई कि फ़ौज ने धावा बोलकर गोमती पार का बादशाह बाग़ ले लिया है···चार तोपें इंग्लिस्तानी छीन लीं···अब क़ैसरबाग़ पर से बरतानिया कब्ज़ा हटने को है···बड़ी ख़ुशी हुई।

अगली ख़बर—धावा उलट गया···बाग़ी तितर-बितर हो गये···मोरचे छूट गये···गोरे बड़े इमामबाड़े की छत पर चढ़ गये हैं, कंगूरों पर टँकी लौंगें टूट रही हैं···जामा मस्जिद के गुलदस्तों से गोलियाँ बरसायी जा रही हैं···आगे नज़र हुसैनाबाद पर है···

मौलवी अहमदुल्ला शाह ने तिलंगे जमा करके अपने कामदार फ़ीरोजगाह से कहा, "तुम पत्थर पुल से चढ़ाई करो, मैं ऐशबाग से हमला करता हूँ···" तलवार-बाज़ी शुरू हो गई। लेकिन जब अंग्रेज़ी कुमुक आई, पाँव उखड़ गये···

शाम तक गोरे चौक की मछलीवाली बारादरी से लेकर अकबरी दरवाज़े की घनी बस्तियों तक फैल गये···सारी रात गोले दहकते रहे और गोलियों की

बरसात रही···

रियाया काकोरी कसमण्डी की तरफ़ भागी···कोई परिन्दा आसमान पर नज़र नहीं आता था। दरख़्तों से दहशत टपकती थी।

परदानशीन औरतें परदे का होश खो बैठीं···ख़ून नाहक की बू फैल गई, और सर की चादरें उतर चली···

शेख़ सादी ने कहा है—

"यारां फ़रामोश करदंदा इश्क़···"

यानी मुसीबत की वो घड़ी जब बड़े-बड़े आशिक़ इश्क़ करना भूल जाये··· लखनऊ के ग़द्र और क़सरबाग़ की लूट ने यही उक्ति चरितार्थ कर दी थी!

जिस वक़्त क़ैसरबाग़ लूटा गया बेगमाते अवध जिनकी सूरत को सूरज-चाँद तरसते थे, नगे पैरों जंगलों की ख़ाक छानने को निकल पड़ी थी।

शहर में कॉलिन कैम्पबेल का पाँव पड़ते ही लखनऊ में अफ़रातफ़री मच गई थी। सिकन्दरबाग़ की ज़मीन इन्सान के लहू से सुर्ख़ हो चुकी थी। बेगम कोठी मे जवान लाशें बिछ चुकी थीं और क़ैसरबाग की लंका लुट चुकी थी···

गोरे लूट में लगे थे और इसी बीच हज़रतमहल अगर अपने फ़रजद को लेकर निकल न लेती तो कुछ अजब नहीं कि गिरफ्तार हो जाती। पहली मार्च को बेगम ने नगर से पैर निकाला था और ८ मार्च को लखनऊ पर अंग्रेज़ी कब्जा हो गया। शहर पर फ़िरंगियों के बढ़ते हुए असर को देखकर ही मशहूर क्रान्तिकारी मौलवी अहमदुल्ला शाह (नक्क़ारा शाह) ने २३ दिन की लगातार जंग में अपनी जान फँसाकर बिरजीसक़द्र की जान बचायी थी और उन्हें अपनी माँ के साथ शहर छोड़कर निकल भागने का पूरा मौक़ा दिया था।

चौलक्खी कोठी

ये पहली मार्च, १८५८ का दिन था। बहुतों ने उसे १६ मार्च, १८५८ की तारीख़ माना है। जिस वक़्त जनाबे आलिया 'चौलक्खी कोठी' को छोड़कर घसियारी मण्डी वाले फ़ाटक से बाहर निकलीं शहर में पानी काट-काट कर बरस रहा था। बिरजीसक़द्र एक बूढे सैयद की गोद में कन्धे से चिपटे हुए थे और उन पर एक ग़लीचा मय चाँदनी पड़ा था। कहा जाता है, ये कोई और न थे बल्कि बेगम हज़रतमहल के बाप ही थे।

बेगम अपने बेटे को लेकर पीनस में सवार हुईं। चार तोड़े अशर्फ़ी और जवाहर बेश से भरे हुए पानदान और पिटारे साथ थे। हज़रतमहल के कामदार नवाब मम्मू ख़ां ने जवाहरख़ाने से निकालकर यही साथ कर दिया था बाक़ी उनके नायब शरफ़ुद्दौला को लेकर पीछे से पहुँचना था। मगर हाय, कुछ न पहुँचा··· जिनकी क़िस्मतों में था बस उन्होंने पाया···

टीला शाह पीर जलील

सवारी सीधे पहुँची 'टीला शाहपीर जलील'। कुछ मुराद-ओ-मन्नत हुई और अब मौलवीगंज में जवाहर अली ख़ां के घर उतरीं। वहाँ से सवार हुई तो गुलाम रज़ा ख़ा की कोठी पर ठहरीं फिर शरफ़ुद्दौला की हवेली में गई। वहाँ से इमाम-बाड़ा हुसैनाबाद में तशरीफ़ लाई। जांनशीन के बोसे लिए और रात मिर्ज़ामण्डी में साहजी की ड्योढ़ी में ठहरीं।

आलमबाग़

अगले रोज़ शहर के नाके आलमबाग़ की तरफ़ रुख़ किया। मम्मू ख़ां ने घोड़े की रकाब में पैर रखा, मीर मेंहदी अपनी अयाल के संग थे—अहमद हुसैन, हकीम हसन रज़ा साहब, कुछ तिलंगे सवार और बाक़ी पैदल सब साथ हो लिये।

भरावन

आलमबाग़ से निकलकर सब के सब भरावन पहुँचे, राजा मर्दन सिंह ने एक चौपाल ठहरने को दिया और वो भी बमुश्किल तमाम—यहाँ तक कि ख़ुद आने और मुलाक़ात करने तक की ज़हमत न की।

सफ़र के बाद सब के सब भूखे थे। बेगम और उनका बेटा भी। लेकिन ड्योढ़ी से पयाम आया कि जल्दी क्या है, जब खाना पक चुकेगा भेज दिय जायेगा।

आँसू के घूंट पीकर रह गई और वो भी ग़द्र की मशाल...

पूछने वालों ने इस बेरुख़ी की वजह दरियाफ़्त की तो जवाब मिला, "हम तुम्हें क्यों जगह दें और क्यों तुम्हारे शरीक हों, तुम हर जगह मिस्ले मेंढ़क उछलती फिरोगी और अंग्रेज़ मिस्ले साँप लहराते फिरेंगे।"

और फिर बेगम के पैर उखड़ गये। याद आए रइया सदामऊ के राजा नर-पति सिंह जो बेगम के वफ़ादार थे, यही थे जो बाद में बहराइच की लड़ाई में उनकी तरफ़ से अंग्रेज़ों से भिड़ गये और उस जंगे आज़ादी अव्वल में अपनी जान लुटा दी।

कठवारा

अब बेगम ने पच्छिम का इरादा छोड़कर उत्तर की तरफ़ मुँह मोड़ा। लौट कर गोमती पार की और मड़ियांव छावनी के अंग्रेज़ी मोर्चे से महज़ नौ मील फ़ासले वाले कुर्मियों के गाँव कठवारा में पड़ाव किया। कठवारे के पठान सरदार ने बेगम की मेहमाननवाज़ी ख़ूब अच्छी तरह की मगर बेगम को कठवारा आया हुआ जानकर अंग्रेज़ों ने कठवारे के सदर ख़ान बहादुर को क़ैद कर लिया और

उसका कुल इलाक़ा जब्त कर लिया।

ये सज़ा थी वफ़ाशियारों को और सबक़ था औरों को। बेगम ने बाड़ी, धना-पुर पंडरिया होकर ख़ैराबाद की तरफ़ क़दम बढ़ाया…

ख़ैराबाद

ख़ैराबाद में मौलवी अमादुद्दीन उर्फ़ मौलवी मुहम्मद नाज़िम बिसवां बाड़ी ने ख़ैराबाद से तीन कोस आगे आकर बेगम का एहतराम किया। बड़ी धूम से नक़्क़ारा निशान के साथ जुलूस किया। रास्ते में फ़क़ीरों में २००० रुपये की ख़ैरात बँटी और फिर जब दाख़िल शहर हुई तो तीन तोपों की सलामी हुई।

मौलवी ने मजहब इमामिया से वाबस्ता जान कर मिर्ज़ा बन्दाअली बेगम के इमामबाड़े में उतारा…ख़ैराबाद रास आया मगर चैन कब था…दिल में जाने क्या समायी कि पूरब की तरफ़ मुँह किया और महमूदाबाद के लिए बढ़ीं…

महमुदाबाद

ख़ुदा मालूम कि बिसवां गई भी या नहीं लेकिन सरफ़राज़ बेगम का ख़त बोलता है कि गई थीं जिनकी छोकरी यास्मीन भी उनके साथ थी।

महमूदाबाद रुकीं तो राजा नवाब अली ख़ां के क़िले में ठहरीं…राजा के नायब ही तो थे ख़ान अली ख़ां साहब जो ३० जून, १८५७ को चिनहट की लडाई में हिन्दुस्तानी फ़ौज के कप्तान बने थे।

महमूदाबाद छोड़ा तो भिठौली के लिए क़दम बढ़े…

भिठौली

बहरामघाट के पास भिठौली में बेगम राजा मनवा की गढ़ी में रहीं। वह गुरुबख़्श सिंह रैकबार राजपूत का इलाक़ा था…और तब ही आ गये बेगम के ख़ास तरफ़दार बौंडी के महाराज हरदत्त सिंह सवाई, बड़ी मिन्नत ओ ख़ुशामद के बाद बोले, "चलिए, बौंडी आपका घर है…यहाँ रहना मुनासिब नहीं, भिठौली वाले अंग्रेज़ों के दोस्त हैं…"

ये हमदर्दी आँखों में आँसू भर लाई…फिर कुछ न कहा और मंजूर किया।

ठाकुर हरदत्त सिंह की सरपरस्ती में अवध का शाही क़ाफ़िला कूच कर गया। भँवरी मौजा में पड़ाव किया और फिर बौंडी…

बौंडी (बहराइच)

सन् १८५८ के मार्च महीने में बेगम बौडी पहुँचीं। ठाकुर हरदत्त सिंह की तरफ़ से जबरदस्त ख़ातिर तवाज़े—एक मुद्दत के वास्ते ठहराव हुआ। ठाकुर के

बेटे महेश बख़्श सिंह ने बिरजीसक़द्र को गले लगाकर अपना भाई बनाया···

धीरे-धीरे लखनऊ के सभी भागे हुए लोग बौंडी आ पहुँचे। बौंडी में ऐसी चहलपहल जगी की बारादरी के इर्द-गिर्द जैसे लखनऊ का चौक आबाद हो गया···

उसी फ़ज़ा में एक शाम गरां गुज़री। ख़बर मिली—लखनऊ में बेगम के नायब शरफ़ुद्दौला का क़त्ल हो गया···बारादरी में कनीज़ों के साथ बैठ कर गिरिया किया और माँ-बेटों ने दस्तरख़्वान की शिरकत नहीं की···कलेजे पर साँप लोट गये···

अवध के कुल जांनिसारों ने बौंडी को अपना मरकज़े मनसूबा बना लिया। जनाबे आलिया के सीने में अंग्रेज़ों के वास्ते शोले एक बार फिर भड़क उठे। उन्होंने सबको मिलाकर दुश्मन से भिड़ जाने का पक्का इरादा किया।

बेगम के साथ राजा हरदत्त सिंह, बैंसवाड़े के राना बेनीमाधव, तुलसीपुर के राजा नरपत सिंह, फ़ीरोज़शाह और नाना साहब पेशवा ने मिलकर नया मोर्चा बनाया।

इस बीच अवध में मलिका टूड़िया (महारानी विक्टोरिया) का एलान आया और इसके जवाब में बेगम का मुँहतोड़ एलान जारी हुआ।

बहराइच इलाक़े में रहते हुए बेगम और बिरजीसक़द्र द्वारा सिविल कमिश्नर मेजर बैरो से ख़त और दूतों से बात होती रही। मगर बेगम अंग्रेज़ों की ईमानदारी में बिलकुल यक़ीन नहीं करती थी।

राना बेनीमाधव घने जंगलों के बीच नानपारा के क़िले पर जंग में जूझ रहे थे। बेगम ने चहलारी के ठाकुर बलभद्र सिंह को भी तिलक कर के फ़िरंगियों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए दूसरी तरफ़ भेजा···

और वो शमए वतन का बेमिसाल पतंगा शहीद हुआ।

कमाण्डर इन चीफ़ लार्ड क्लाइव को ये गरमागरम ख़बरें बराबर मिलती रहीं। नतीजा यह हुआ कि वो बौखलाया हुआ एक बड़ी फ़ौज लेकर बहराइच की तरफ़ से लड़ता हुआ आया। मालूम हुआ कि नाना साहब और राना बेनीमाधव २० मील दूर राप्ती नदी के किनारे 'बाँकी' कस्बे में हैं···

और फिर क्लाइव की कुमुक बौंडी आ धमकी—ग़रज़ यह कि वतनपरस्तों का यह मोर्चा ३० दिसम्बर, १८५८ को टूट गया···

और फिर वही गर्दिश की धूल घोड़ों की टापों से उड़कर बेगम के बालों पर बैठ गई। आख़िरकार बदनसीब बेगम ने जनवरी, १८५९ में बौंडी छोड़ दिया।

क़दम आगे बढ़े और तुलसीपुर का इरादा हुआ···

तुलसी (गौंडा)

बेगम अचवागढ़ी में दो दिन रहीं। तुलसीपुर के राजा दृगराज सिंह अंग्रेज़ी हुकूमत की ख़िलाफ़त में शहर लखनऊ में एक साल तक नज़रबन्द रहे और आख़िरकार दिलकुशा में मर गये। यह कॉलिन कैम्पबेल था जिसने उन्हें क़ैद किया था और उनके बाद भी तुलसीपुर की रानी पर अंग्रेज़ों ने बड़े सितम किये थे।

बाद मे बेगम के हिमायती गोंडा के राजा देवीबख़्श सिंह, जो घुटनों तक की लम्बी बाँहों के कारण आजानुबाहू कहे जाते थे, अंग्रेज़ों के साथ लड़ते-लड़ते स्वर्ग सिधारे।

बेगम तराई के उस इलाक़े में अन्दर ही अन्दर टूटती रहीं और भटकती फिरीं। पहले देवीपाटन, सरबामर्ग और मास्वीदिया अंगूरकोट के ऊँचे-नीचे रास्ते तय किए। फिर महादेवा पहाड़ और सोनार पर्वत पार करके नयाकोट पहुँचीं—

बरेली की बात

कुछ किताबें कहती है कि बेगम हज़रतमहल जनवरी, १८५९ में बरेली भी गई थीं और रुहेले नवाब ख़ान बहादुर के यहाँ मेहमान हुईं। जहाँ से लौटकर नयाकोट आईं और फिर नेपाल चली गईं। नवाब ख़ानबहादुर पहली जंगे आज़ादी में शामिल थे। नवाब ने तमाम हिन्दू-मुस्लिम राजाओं के साथ अपना फ़ौजी दस्ता तैयार कर लेने के बाद नेपाल के राजा से भी मदद माँगी थी मगर राणा तो अंग्रेज़ों के ख़ैरख़्वाह थे, ग़रज़ ये कि साफ़ मुकर गये।

गोरों की दुश्मनी से ये नौबत भी आयी कि नेपाल नरेश ने ही रुहेले नवाब को पकड़वाकर अंग्रेज़ों के सिपुर्द कर दिया। और फिर बरेली की पुरानी कोतवाली वाले चौराहे पर अंग्रेज़ों ने ख़ानबहादुर ख़ां को मार्च, १८६० में फाँसी दे दी और उनके २५७ सिपाहियों को भी बरगद के दरख़्त पर लटका कर मार डाला गया।

नयाकोट

यहाँ बेगम नवाब आसफ़ुद्दौला वाली बारादरी में पीनस से अकेली उतरीं··· और फिर पीछे से आया बाक़ी लावलश्कर—

२७ फ़रवरी, १८५९ को नेपाली कप्तान निरंजन माँझी अपने राणा जंग-बहादुर का ख़त लेकर बारादरी आसफ़ी में आया जिसमें लिखा था—

"आप अंग्रेज़ों से मेल कर लें—और इसी में अब आपकी बहबूदी है···"

बेगम की तरफ़ से नवाब अली मुहम्मद ख़ां उर्फ़ मम्मू ख़ां (नसीरुद्दौला) ने

जवाब में कहा—

"जनाब, न हमको आपकी मदद की जरूरत है और न हम अब अंग्रेजों से मेल करेंगे।" और फिर महज इस साफ़गोई और सख़्तबयानी ने मम्मू ख़ां को बुरी से बुरी नौबत को पहुँचा दिया।

अंग्रेज़ों ने धोखाधड़ी से मम्मू ख़ां को बेगम के घेरे से अलग कर दिया और उस पर मुक़दमा क़ायम कर दिया। फ़ैसले में उसे कालेपानी की सजा देकर अण्डमान के टापू में भेज दिया गया।

सरहद की शिकस्त

अब अवध की अधीश्वरी अपने शहज़ादे के साथ सरहदे अवध पर खड़ी थीं इसलिए उन दोनों को मुल्क में वापस लाने के वास्ते अंग्रेज़ों ने बारहा कोशिश की लेकिन नाकाम रहे···

बिरजीसक़द्र के एक ख़त से ज़ाहिर है कि राणा जंगबहादुर ने उन सब को अपनी सेना, राजाओं और तअल्लुक़ेदारों समेत चितवान चले जाने को कहा था···

और फिर उनके साथ के लोग बिखर कर चितवान, बुटवल और नयाकोट में दुख झेलते रहे। यहाँ के गोरखे बेगम के सिपाहियों से बन्दूक़ें लेकर ही उन्हें खाने के लिए चावल दिया करते थे।

ज़ुल्म का पानी सर से ऊपर था—इसी सरहद की धार पर बेगम के सारे साथी और आज़ादी के दीवाने एक-एक करके शहीद होते रहे···

इलाक़ा ख़ूब हरा-भरा था मगर मानिन्दे मैदान कर्बला था। इन्हीं सरहदी लड़ाइयों मे राना बेनीमाधव दबीर जंगबहादुर शहीद हुए···बैसवाड़े के जोगराज सिंह मारे गये···नेपाल की सीमा-रेखा पर ही गोंडा के राजा देवीबख़्श, ख़ैराबाद के चकलेदार हरप्रसाद और बौंड़ी के ठाकुर हरदत्त सिंह की जान गई। नाना साहब के साथी अज़ीमुल्ला ख़ां बुटवल में मारे गये, बेरुआ के गुलाब सिंह यहीं मरे। यहाँ तक मशहूर है कि तराई के मलेरिया के कारण बाला साहब और नाना साहब की मौत भी यहीं हुई।

नेपाल

नेपाल की सरहद में पनाह के लिए पाँव रखने से पहले ही बेगम ने महाराजा नेपाल को तमाम हीरे, जवाहरात बतौर नज़राना भिजवा दिये और ये सब अच्छे तअल्लुक़ रखने की ग़रज़ से किया जा रहा था।

उस दिन बेगम को वो वक़्त भी याद आया जब जाने आलम से लार्ड डलहौज़ी ने शाही महल में मुलाक़ात की थी। उस वक़्त बादशाह ने अवध की सरहद

पर अंग्रेज़ी फ़ौज के इकट्ठा होने का सबब पूछा था तो रेजीडेंट ने जवाब दिया था, 'नेपाल का राजा तीर्थयात्रा करने निकला है और उसकी हिफ़ाज़त के लिए ही ये इन्तज़ाम किया गया है···

हूक उठी और अपने दिल से ख़ुद बेजार हुईं मगर करतीं क्या, लाचार थीं—

काठमाण्डू

जब राजा नेपाल की राजधानी में उतरी तो पहले अपने रहने के वास्ते एक मकान क़िस्त पर लिया···फिर काठमाण्डू से कुछ दूर 'बर्फ़ बाग़' नाम से एक महल बनवाया···शहर के बीच चौक में एक मस्जिद और इमामबाड़ा बनवाया···अब तक हज़ारों हिन्दुस्तानी नेपाल में पनाह ले चुके थे···बेगम और उनके बेटे के लिए राजा नेपाल ने गुजारा बाँध दिया था—पाँच सौ रुपये माहवार का···

इस तरह बड़ी बेचारगी के साथ मुसीबतों से भरी ज़िन्दगी के दिन कटे और फिर अंग्रेज़ों के दिल का काँटा मगर हज़रतमहल नाम का वो सुर्ख़ शोला रंग फूल अप्रैल, १८७९ मे मुरझा गया···

बेगम अपनी ही मस्जिद के अहाते में वहीं दफ़्न हो गई।

बिरजीसक़द्र ने ठीक ही लिखा है—

बुलबुल जो हूँ हर एक गुले यासमीं से दूर
बिरजीस हूँ मगर बुते ज़ोहरा जबीं से दूर
मिट्टी ख़राब हो गई नेपाल में तेरी
रहता है क्यों मज़ारे इमामे मुबीं से दूर ।।

सत्तावनी क्रान्ति और लखनऊ

लार्ड डलहौज़ी सन् १८४८ से सन् १८५६ तक भारत का गवर्नर-जनरल रहा। अपने आठ साल के इस सेवाकाल में यह धूर्त अधिकारी भारतीय रियासतों पर बराबर दांत लगाए रहा। सन् १८४८ में सतारा, १८४६ मे संभलपुर-जैतपुर, सन् १८५० में बागपत, सन् १८५२ में उदयपुर उसने छीन लिया। यही नहीं, सन् १८५३ में झाँसी और सन् १८५४ में नागपुर उसकी मुट्ठियों में आ गया। इसी बीच उसने कर्नाटक के नवाब और तंजौर के राजा का पद छीना, बाजीराव और पेशवा के मरते ही उनके सुपुत्र नाना साहब की गद्दी छीनकर उनकी पेंशन भी ज़ब्त कर ली। अब अवध की बारी आ गई थी।

सन् १८५६ में ही लार्ड डलहौज़ी शहर लखनऊ के शाही मेहमान बनकर आए थे और क़ैसरबाग़ की जर्द कोठी में उनकी आवभगत हुई थी। इस गोरे फिरंगी का मनहूस साया तख़्त ओ ताज पर ऐसा पड़ा कि फ़रवरी, १८५६ के बीच मँझधार में दोनों डूबकर रह गये और उस शहंशाह मंज़िल को, जिसमें वाजिद अली शाह ने उनको गले से लगाया था, 'गारत मज़िल' कहा जाने लगा।

लखनऊ वाले कभी अंग्रेज़ों से राज़ी नहीं रहे। बादशाह ग़ाजीउद्दीन हैदर के समय में लखनऊ आने वाले प्रसिद्ध पर्यटक पादरी आर्क बिशप हेब्बर ने अपनी यात्रा-पुस्तिका में लिखा है कि 'अंग्रेज़ों को हाथी पर सवार होकर पाँच-दस सिपाहियों के साथ ही शहर में निकलना चाहिए, इक्का-दुक्का घोड़े पर सवार अंग्रेज़ों को यहाँ क़त्ल कर दिया जाता है।

जब अंग्रेज़ों राज्य का टिड्डी दल सारे भारत पर छाने लगा तो ईसाई पादरी हिन्दू धर्मशास्त्रों की खुलेआम निन्दा करने लगे और भारतीय सैनिकों को जब्रन ईसाई बनाया जाने लगा। हेनरी लारेन्स जैसे कुशल ब्रिटिश पदाधिकारी अपने भाषणों द्वारा हिन्दू-मुसलमानों में फूट डालने का अनुचित प्रयास करने लगे।

अपने प्यारे बादशाह की सल्तनत का छिन जाना अवध वालों के लिए दुख और ग्लानि की बात थी।

अवध मे सन् १८५६ के फ़रवरी महीने से ही ग़द्र आरम्भ हो गया लेकिन इस विद्रोह की मशाल मे तेल तब पड़ा जब नवम्बर, १८५६ मे मौलवी अहमदुल्ला शाह लखनऊ आए। तब तक लखनऊ लूटपाट, राहजनी, छिटपुट बगावत और शासन की सख़्ती की वारदाते होती रही। मौलवी साहब फ़क़ीरी भेष मे अपने मुरीदो के सग घसियारी मण्डी मे रहने लगे। अग्रेजों ने फ़कीरों पर भी प्रतिबन्ध लगाना चाहा मगर उनकी प्रगति मे कोई बाधा न पड़ी। लखनऊ के तत्कालीन साप्ताहिक 'तिलिस्म' मे उनका जिक्र छपता था। जाने आलम वाजिद अली शाह को लिखे गए एक पत्र मे उनकी शैदा बेगम ने मौलवी डंका शाह उर्फ नक्कारा शाह का जिक्र इस तरह किया है—

"पिया जाने आलम, जब से आप लखनऊ से सिधारे, ख़्वाब हराम है। रोना-धोना मुदाम है। यहाँ शबो-रोज आहो बुकॉ में गुजरती है, मगर दूसरी मेरी हम-जिन्से खुश-खुश इठलाती फिरती है। आपके बाद से फ़िरंगियों के खिलाफ़ जहर उगला जा रहा है। नई-नई बाते सुनने मे आ रही हैं। दिल को हौल है कि देखिए फ़लक क्या-क्या रग दिखलाता है। घासमण्डो में मौलवियो का अभाव है। सुना है कि एक सूफ़ी अहमदुल्ला शाह आए हुए है। नवाब चीनाटीन के साहब-जादे कहलाते है। आगरे से आए है। ये भी सुना है कि उनके हज़ारहा मुरीद है और वे पालकी में निकलते हैं। आगे डंका बजता होता है, पीछे अजदहा बड़ा होता है। वह शतनाक ख़बरों की गर्म बाजार है। सरकार सुल्ताने आलम, अब आप अपना हाल लिखिए। दिल को शाद काम कीजिए।"

श्री अमृतलाल नागर जी ने अपनी पुस्तक 'गदर के फूल' में लिखा है— "मौलवी साहब के शिष्यों के सम्बन्ध मे मैंने सुना है कि वे लोग भीड़ के सामने अंगारे चबाया करते थे, मौलवी साहब कहते थे कि जो आज अगारे चबा रहे हैं, कल वे ही आग उगलेगे।"

मार्च, १८५७ मे मौलवी अहमदुल्ला शाह फ़ैज़ाबाद में गिरफ़्तार हो गये। यह ख़बर सुनकर १८ अप्रैल, १८५७ को नाना साहब अपने कामदार अज़ीमुल्ला ख़ां को लेकर लखनऊ आए। इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए किए जाने वाले इस जनविद्रोह की भूमिका मे भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के बेजोड़ नमूने देखने को मिलते है।

मगल पाण्डे के स्वर स्वर मे मिलाकर मई '५७ की दो तारीख़ को मूसाबाग़ में सातवी अवध इर्रेगुलर सेना ने भी गाय और सूअर की चर्बी के बने कारतूसों का इस्तेमाल करने से इनकार कर दिया। इन अगुआ सिपाहियों मे सूबेदार सरनाम सिंह, जमादार शिवदीन, भैरव सिंह, गुलजार ख़ा और मुगल बेग के नाम उल्लेख-

नीय हैं। इन्हीं लोगों ने ३ मई को एक अंग्रेज़ अफ़सर और उसकी फ़ौजी टुकड़ी पर हमला कर दिया। ४ मई, १८५७ को लखनऊ के मूसाबाग़ में विद्रोही सिपाहियों को घेर कर अंग्रेज़ सेनाधिकारियों ने तोपें चलवा दीं। फिर तो लखनऊ मे छतरमंज़िल से हज़रतगंज तक लगे इमली के दरख़्तों पर हिन्दुस्तानियों को नित्य फाँसियाँ दी जाने लगीं।

१० मई, १८५७ को मेरठ छावनी में विद्रोह प्रारम्भ हो गया और ३० मई तक वह काण्ड उत्तर भारत का सामूहिक सग्राम बन गया। ३० मई, '५७ को ही मड़ियाँव छावनी लखनऊ के सिपाहियों ने अंग्रेजी सत्ता के विरोध में खुली बग़ावत की मगर तोपों के दमनचक्र ने उस विद्रोह को असफल बना दिया।

फ़ैज़ाबाद में क़ैद मौलवी नक़्क़ारा शाह को ८ जून, १८५७ को जब फाँसी की सज़ा सुनाई गई तो नगर में क्रांति की लहर फैल गयी और तिलंगों ने जेल की दीवारें बख़ूबी तोड़कर मौलवी साहब को बाहर निकलवा लिया। १५ जून, '५७ को लखनऊ कोतवाली पर लगभग ५००० लोगों ने हथियारबन्द होकर हमला किया मगर वो सब गोलाबारी से तितर-बितर कर दिए गए।

प्रथम युद्ध चिनहट में हुआ। सारे अवध में ग़द्र की चिनगारियाँ भड़क उठीं। २८ जून, '५७ को नवाबगंज (बाराबंकी) और कानपुर से आए स्वतंत्रता सेनानी एकत्र होने लगे। उधर मड़ियाँव और मुदकीपुर से अग्रेजी फ़ौज बुलाकर रेज़ीडेंसी इकट्ठी की जाने लगी। ३० जून को हेनरी लारेंस की सरपरस्ती में ब्रिटिश सेना तोपें लेकर इस्माइलगंज (चनहट) पहुँची। आम के बाग़ में जमकर मोर्चा हुआ। अंग्रेजी फ़ौज के पाँव उखड़ गए। ब्रिगेडियर ज़ख़्मी हो गया। देशी हाथी विदेशियों की तोपें घसीट के ले जाने लगे तब गोरे अफ़सरों ने भागकर जल्दी-जल्दी बेलीगारद की सुरक्षा-व्यवस्था की। मगर उसी रात के ग्यारह बजे तक विद्रोहियों ने बेलीगारद को भी घेर लिया।

बेलीगारद पर सबसे ज़बरदस्त हमला बेगम हज़रतमहल के कमाण्डर जनरल सैयद बरकत अहमद की निगरानी में पहली जुलाई सन् सत्तावन को हुआ जिसके तीन दिन बाद ही हेनरी लारेंस साहब इस हवन की समिधा बन गए। अब क्या था, बेगम हज़रतमहल के इरादे और मज़बूत हो चले जो एक मुद्दत से लुटे हुए क़ैसरबाग़ में अपने हक़ और जन-अधिकारों के लिए जी-तोड़ कोशिशें कर रही थीं।

६ जुलाई, १९५७ को बेगम साहिबा के आँचल के साये में विद्रोही सेना ने अपने युवराज बिरजीसक़द्र का राजतिलक कर दिया। राजमाता ने शासन व्यवस्था सँभाली मगर शहर तो जंगे आज़ादी की लपटों में पहले से ही जल रहा था। इस दौर की बदनसीबी का एक पहलू यह भी था कि बेगम हज़रतमहल ने मौलवी अहमदुल्ला शाह को भरसक अपना सेनापति बनाना चाहा था मगर बना

न सकी क्योंकि कुछ असामाजिक तत्त्वों एवं जातिगत भेदों ने बीच में दीवारें खींच रखी थीं। दूसरे, दोनों ही व्यक्तित्व आत्माभिमान के रोग से बुरी तरह ग्रस्त थे।

जुलाई, अगस्त और सितम्बर तीन महीने शहर के विद्रोही जवानों ने रेज़ीडेंसी वालों को एक दिन भी सुख से न बैठने दिया। सितम्बर में हेनरी हैवलाक और जनरल आउटरम लखनऊ आ गए जिनके साथ बड़ी-बड़ी फ़ौजें भी थी। नतीजा यह हुआ कि शहर कुरुक्षेत्र का मैदान हो गया और क़ैसरबाग़ में घमासान युद्ध होने लगा। इन लड़ाइयों का सिलसिला अलग-अलग स्थानों पर बराबर जारी रहा। अक्तूबर में आलमबाग़ की बारी आई और वह मैदाने जंग बना रहा। इधर मौलवी साहब के हमले अंग्रेज़ी मोर्चे तोड़ते रहे और उधर कानपुर से पलटनों का आना भी उसी तरह जारी रहा। मगर कॉलिन कैम्पबेल के आते ही लखनवी ग़द्र की रंगत बदलने लगी। यह नवम्बर का महीना था। आधे नवम्बर की तारीखों में सिकन्दरबाग़ में लहू के दरिया बहने लगे और शाहनजफ़ के इर्द-गिर्द भी भयंकर लड़ाइयाँ होने लगीं।

मौलवी साहब की फ़ौजें और बेगम साहिबा की सेनाएँ अलग-अलग मोर्चों पर अंग्रेज़ी पलटनों से निपटती रहीं। २५ फरवरी, १८५८ को मूसाबाग़ में लखनऊ के ग़द्र की ऐतिहासिक जंग हुई जिसमें बेगम हज़रतमहल ने भी भाग लिया था। फ़रवरी भर शहर की हर गली-कूचे में तलवारें चमकती रहीं मगर साथ ही साथ अंग्रेजी सत्ता तेज़ी से प्रभाव में आती गई क्योंकि उसके पास अच्छे हथियार, कुशल सैन्य संचालन, ग़द्दार हिन्दुस्तानियों एवं अर्थ सहायता के सफल साधन थे।

मार्च, १८५८ में बेगम हज़रतमहल को शहर छोड़कर भागना पड़ा। मौलवी साहब के पाँव भी उखड़ गए थे। शाही फ़ौजें तितर-बितर हो गईं और तअल्लुक़ेदारों के दस्ते वापस लौट गये। नतीजा यह हुआ कि ८ मार्च के दिन लखनऊ शहर पर कंपनी सरकार का पूरा अधिकार हो गया। स्वतंत्रता-संग्राम की वह आग, वक़्त से पहले जंग के शुरू हो जाने, क़ाबिल रहनुमाओं की कमी, क्रांतिकारियों पर झूठे आरोप लगने, धर्म और दीन की आवाज़ों जैसी चंद कमज़ोरियों से एक अरसे के लिए दब ज़रूर गई मगर राख से ढकी हुई ये चिनगारियाँ जब मौक़ा पाकर फिर भड़कीं तो उन्होंने आज़ादी का चिराग़ जलाकर ही छोड़ा। इस प्रकार सन् १९४७ वाले परिशिष्ट की भूमिका सन् १८५७ का ग़द्र ही है।

शामे अवध के रौशन चिराग़

हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुसलिम एकता का जैसा शानदार नमूना लखनऊ की नवाबी में मिलता है शायद कहीं नहीं मिलेगा। यह अस्सी बरस का दौर लखनऊ की सरजमीं पर गुज़रा है और सिर्फ़ यही तख़्ते सल्तनत ऐसा हुआ है जिसके पाए पर साम्प्रदायिक दंगों का ख़ून नहीं लगा है।

ईरानी नस्ल के नवाबों ने हिन्दू संस्कृति और अपनी हिन्दुस्तानी जनता की भावनाओं का सम्मान करके उनके दिलों के दरवाज़े खोल दिये थे और इसका जवाब उन्हें अवाम की तरफ़ से भी बराबर मिला। इस आपसी मेलमिलाप से ही उस गंगा-जमुनी तहज़ीब की बुनियाद पड़ी जिसे आज लखनवी तहज़ीब कहते हैं।

नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबार में उनके ख़ास वज़ीर राजा टिकैतराय और राजा झाऊलाल हिन्दू कायस्थ थे। उनके अलावा गोविन्द राम उनके नायब हुए जो नागर ब्राह्मण थे। राजा टिकैतराय को नवाब अपना सबसे वफ़ादार दोस्त मानते थे। और राजा झाऊलाल की जुदाई तो उनके लिए जानलेवा सितम बन गई थी। आसफ़ुद्दौला के पहले से नवाबों के नायबों के हिन्दू होने की प्रथा चली आ रही थी। उनके बुजुर्गों में अवध के पहले नवाब सआदत अली ख़ां बुरहानुल-मुल्क के नायब राजा दुर्जन सिंह, लक्ष्मीनारायन और दीवान आत्माराम हुए। नवाब सफ़दरजंग के नायब राजा नवलराय और राजा जगतनारायन हुए। इसी तरह नवाब शुजाउद्दौला के पाँचों दीवान हिन्दू थे। नवाब शुजाउद्दौला के वक़्त से ही इन शीआ मुसलिम शासकों ने दाढ़ी रखना छोड़कर हिन्दुस्तानी रिवाज से मूँछें रखना शुरू कर दिया था। नवाब आसफ़ुद्दौला ने अगर ब्राह्मण, कायस्थ, खत्री और बनियों को अपने दरबार की ज़ीनत बनाया तो भोलासिंह, मैकूसिंह, मोती-सिंह और शोभासिंह वग़ैरह कुछ छोटी जाति के कहारों को भी उन्होंने रुतबा दिया था, जिसमें भवानी महरा उनका ख़ास ख़ादिम था। उसके पास तो उनके

खज़ाने की चाभी रहा करती थी। भवानी महरा को बैसवाड़े की हुकूमत दे दी गयी थी और उसकी शान में उसे पालकी, घोड़ा, हाथी, पलटन, वग़ैरह सब कुछ मिला था। नवाब आसफ़ुद्दौला के वक़्त में ही ऐशबाग़ लखनऊ की रामलीला शुरू हुई जहाँ बैरागियों के डेरे बस गये। बाबा फ़तहचन्द का उदासी पंथ वाला गुरुद्वारा बना और बाबा हज़ारा की गद्दी क़ायम हुई। यहाँ टिकैतगज का पुराना हनुमान मन्दिर नवाब आसफ़ुद्दौला का ही बनवाया हुआ बताया जाता है। मन्दिर कल्याणगिरि और अस्थल बाबा गोमतीदास के लिए भी उन्होंने दान दिया था। उनके शाही फ़रमानों से रामलीला में चन्दा देने के पट्टों का ज़िक्र मिलता है। आसफ़ुद्दौला अपनी रियाया के साथ मिलजुल कर होली का त्यौहार बड़े धूमधाम से मनाते थे और रंग-गुलाल खेलते थे। अगर मजहब के चन्द ठेकेदारों ने इस पर एतराज़ किया तो उन्होंने अपना पहला मजहब अवाम को ख़ुश रखना बताया था। उनकी बेगम के मायके वालों ने ही अलीगंज का मशहूर मन्दिर बनवाया था।

उधर राजा टिकैतराय ने बेता नदी पर पुल बनवाकर एक शिवाला बनवाया तो साथ म एक मस्जिद भी बनवायी। वह अपने मज़हब के मुरीद इन्सान थे मगर उन्होंने तमाम मन्दिरों के साथ-साथ कुछ मस्जिदें भी बनवाईं। मेंहदीगंज में उनकी प्रसिद्ध मस्जिद है। झाऊलाल ने ठाकुरगंज में एक इमामबाड़ा बनवाया था जिसे 'बश्यतउलयाल' कहा जाता है। उसके सामने की इमली वाली मस्जिद भी उन्हीं की बनवायी हुई है। बाद में राजा झाऊलाल कुछ बेगमातों को लेकर इराक़ में कर्बला पाक की जियारत के लिए गये थे और वहीं उन्होंने इन्तक़ाल फ़रमाया। अवध की बेगमों ने बनारस के राजा चेतसिंह की एक बार बडी मदद की थी और ऐसा ही सुलूक जवाब में बनारस के महाराजा की तरफ़ से भी मिला था।

नवाब सआदत अली ख़ां ने अपने रिसाले के लिए एक नौजवान हिन्दू ओरीलाल को अपना रिसालदार बनाया था। बाद में उनको पालिया की जागीर दे दी गई जिसे पाकर राजा बख़्तावर सिंह कहलाये। ओरीलाल ने नवाब की जान बचाने के लिए एक बार अपनी जान तक ख़तरे में डाल दी थी। सआदत अली ख़ां ने ही अयोध्या की हनुमानगढ़ी को दो तोपें दी थीं और वहां के महन्तों को दान में बहुत-सा रुपया दिया था। बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के वक़्त में राजा बख़्तार सिंह के छोटे भाई दर्शन सिंह ने नयाबत पाई। राजा दयाकृष्ण उनके वज़ीर थे। बादशाह अव्वल ग़ाजीउद्दीन हैदर के ज़माने में लखनऊ में होली, दीवाली, दशहरा और जन्माष्टमी त्यौहार बड़े धूमधाम से मनाये जाते थे। उनके साहबज़ादे नसीरुद्दीन हैदर ने कुछ इमामिया त्यौहारों को भी हिन्दुस्तानी झलक देकर मनाना शुरू किया था। जिसमें इमामों की सालगिरहें और नौरोज़ बड़े ज़ोर-

शोर से मनाये जाते थे। उस समय हिन्दू-मुसलमानों में आपसी इत्तिफ़ाक इस क़दर था कि तमाम हिन्दू ताज़ियादारी करते थे और मजलिसों में शिरकत करते थे तो नवाब रामलीला के जुलूस में देवताओं की आरती उतारते थे। शहर के मुसलमान सूरज-कुण्ड और होली के आठों वाले मेले में बराबर शामिल होते थे। बादशाह नसीरुद्दीन के ख़ास दोस्त मेवाराम थे। लाला रामप्रसाद को उन्होंने इफ़्तख़ारुद्दौला का ख़िताब दिया था और राजा ग़ालिबजंग उनके नायब थे। बादशाह बेगम के दो राजपूत सिपाहियों मोहनसिंह और लालताप्रसाद ने बेगम की तरफ़ से अंग्रेजों से मोर्चा लिया था और अपनी जान गँवा दी थी।

मुन्नाजान की ताजपोशी की अफ़रातफ़री में राजा बख़्तारसिंह ने ही मुहम्मद अली शाह को बख़ूबी छिपा लिया था वरना वो जान से मार दिये जाते।

नसीरुद्दौला जनाब मोहम्मद अली शाह ने तख़्तनशीनी के बाद राजा बख़्तार सिंह को मेंहदौना की जागीर दी और ईरान के बादशाह की वह तलवार नज़र में दी जो नवाब सफ़दरजग दिल्ली से लाये थे। मोहम्मद शाह के वक़्त में दिवाली के दिन लखनऊ शहर के तमाम क़ैदी छोड़ दिये जाते थे। उनके दान का एक पट्टा लखनऊ में अब भी मिलता है। वह ऐशबाग़ के दशहरे में बराबर हिस्सा लेते थे। अमजद अली शाह जो बड़े मोमिन तबीयत थे अपने दरबार में हिन्दू पण्डितों को भी बिठाकर उनसे धर्म की बातें सुनते थे। उनके वक़्त में जब नयाबत की एक जगह ख़ाली हुई तो मेवाराम यह सोचकर कि बादशाह अपने मज़हब के बड़े पाबन्द हैं मुसलमान हो गये मगर नयाबत उन्हें नहीं मिली। बादशाह ने यही कहा कि भई, तुम तो मुसलमान हो गये हो और यह जगह एक हिन्दू की है जो उसे ही मिलेगी और यही हुआ।

वाजिद अली शाह के ज़माने में तो क़ौमी एकता का सितारा और भी बुलन्द हुआ। राजा बालकृष्ण उनके वज़ीर थे और राजा बिहारीलाल उनके अच्छे दोस्त थे। ठाकुरप्रसाद जी नवाब वाजिद अली शाह के उस्ताद थे और उन्हें कत्थक सिखाते थे। जब उनके वज़ीर अली नक़ी ने एक हिन्दू बेवा की ज़मीन ठाकुरगंज में ज़ब्त कर ली तो उन्होंने उसकी ज़मीन वापस दिलाकर उस ग़रीब को एक मन्दिर बनवाने के लिए पैसा दिया। वाजिद अली शाह, क़ैसरबाग़ में जोगियाने मेले, इन्दर सभा और रासलीलाएँ रचाते थे जो सब हिन्दू आस्थाओं की बुनियाद पर थीं। उनकी लिखी हुई बाबुलें, होलियाँ और ठुमरियाँ हिन्दी के रंग में रँगी हैं। वो अगर मुहर्रम बड़ी धूमधाम से मनाते थे तो बड़े मंगल पर भी दिल खोल कर पैसा ख़र्च करते थे जिसमें उनकी तरफ़ से एक ब्रह्मभोज भी होता था। उस ज़माने में लखनऊ मे बहुत से मन्दिरों की बुनियादें पड़ी और मरम्मत हुई।

बेगम हज़रतमहल की सल्तनत में राजा जयलाल सिंह ने उनकी आन और वतन की शान के लिए अपनी जान दे दी थी। शंकरपुर के राना बेनीमाधव,

कालाकाँकर के राजा हनुमन्तसिंह, तुलसीपुर के राजा दृगराज सिंह, महोना के तअल्लुक़ेदार राजा दुर्ग विजय सिंह वग़ैरह सब उनकी पुकार पर ग़द्र में अपनी जान पर खेल गये। बेगम के साथ राजा देवीबख़्शसिंह, राजा अमरसिंह वग़ैरह सरहद नैपाल तक गये थे।

नवाबी मे अगर हिन्दू लोग ताज़ियादारी और पीर फ़क़ीरों के मुरीद थे तो मुसलमान चेचक निकलने पर शीतला मन्दिर से नीर और फूल मँगाते थे। लखनऊ में बनी हुई रानी पड़ाइन की मस्जिद और धनियां महरी की मस्जिद सब अपने आप में क़ौमी मेलजोल की दास्तानें छिपाये हैं। यहाँ अगर हिन्दू राजा इमाम-बख़्श का नाम पाते है तो ठाकुर नवाब अली भी हुए हैं। यहाँ की शाही इमारतों पर मछली, कमल, नागफन और जलपरियाँ के नुक़ूश मिलते हैं वो उस तहज़ीब के पवित्र निशान हैं जिसकी खुली फ़जा में सबका बराबर का हक़ था। और तो और, उस युग में जब लखनऊ के मुहल्ले आबाद किये गये तो इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया कि हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ एक ही वातावरण में रहना सीखें। ग़रज़ ये कि हुसैनाबाद के साथ में रामगज बसाया गया, मंसूर नगर के पहलू मे काश्मीरी मुहल्ला आबाद हुआ! इसी तरह राजा बाज़ार के साथ कटरा अबूतराब ख़ां, गनेशगंज के साथ कसाई बाड़ा, फूलबाग़ के साथ हुसैनगंज, ठाकुर गंज के साथ नवाबगंज और टिकैतगंज के साथ मेंहदीगंज की बस्तियाँ आबाद हुईं।

दरअसल नवाबी का वह ज़माना आपसी मेलजोल का मजहबी इल्तफ़ात का ज़माना था और तवारीख़ गवाह है कि यहाँ कभी हिन्दू-मुसलिम दंगे नहीं हुए।

मरसियों का मसीहा

मीर अनीस, जिसे 'मरसियों का मसीहा' कहना चाहिए, अपने ढंग का अकेला शायर हुआ है और लखनऊ को उन पर हमेशा नाज़ रहेगा—ठीक उसी तरह जिस तरह मिर्ज़ा ग़ालिब के लिए दिल्ली को है। चौक लखनऊ के चोबदारी मुहल्ले में मीर अनीस की ड्योढ़ी और उनका मक़बरा उस वक़्त और उस हस्ती को अपने आप में समेटे बठा है। मीर अनीस की शाम में उस गली का नाम 'कूचए मीर अनीस' रखा गया जिस गली में उनका मकान आज भी उसी हालत में मौजूद है। ड्योढ़ी मीर अनीस से कुछ ही दूरी पर अपने ही बाग़ में वो दफ़्न हुए थे। जहाँ उनका मक़बरा है। १० दिसंबर, १८७४ को जन्नतनशीन होने वाले महाकवि अनीस की शताब्दी जब १६७४ में मनायी गयी तो इन इमारतों की बाक़ायदा मरम्मत हुई और मक़बरे को नई रूपरेखा दी गयी।

ड्योढ़ी मीर अनीस तक जाने वाला क़रीब-क़रीब उसी ज़माने में पहुँच जाता है जिसमें अनीस ज़िन्दा थे। गली-दर-गली और फिर वो गलियाँ जिनकी नालियों तक में खड़ी लखौड़ियाँ आज भी जड़ी हैं। मस्जिद से लगा हुआ छत्तेदार मकान फिर पुराने ढंग का 'बजर किवाड़' दरवाज़े पर बनी हुई शाह जानी मेहराब, दायें-बायें से झुकती हुई मछलियाँ और बीच की कमान पर स्टूको वर्क से बने हुए ख़ूबसूरत बेल-बूटे। दरवाजे के अन्दर पीनस रखने की दहलीज़ और फिर चारों तरफ़ से दालान। मेहराबों से घिरा हुआ सहन। यही अनीस का आँगन है। उनका मर्दानख़ाना है जिसके दक्खिन में एक शानदार दीवानख़ाना है और कोई तअज्जुब नहीं कि कभी यह उनका अज़ाख़ाना (इमामबाड़ा) भी रहा है। पश्चिम की तरफ़से ज़नानी ड्योढ़ी जुड़ी हुई जिसमें उनकी एक रिश्तेदार आज भी आबाद है। मकान में मीर अनीस की, उनके बुज़ुर्गों और उनकी मशहूर मजलिसों की कुछ यादगार तस्वीरें लगी हुई हैं।

मीर अनीस ख़ानदानी शायर थे, आठ पुश्तों तक इनके घराने में शायरी चलती रही, इनके पुरखों का वतन दिल्ली था। अनीस के परबाबा मीर ग़ुलाम हुसैन 'जाहक' नाम से उर्दू-फ़ारसी मे शायरी करते थे। इनके दादा मीर ग़ुलाम 'हसन' साहब दिल्ली के पतन के साथ अवध की पुरानी राजधानी फ़ैजाबाद में आकर आबाद हो गये थे, उनकी लिखी हुई मसनवी 'सहरुल बयान' बहुत मशहूर है जिसमें बेनजीर और बद्रे मुनीर का क़िस्सा है। मीर अनीस के पिता मीर मुस्तहसन 'ख़लीक' ने भी कुछ गज़लें कहीं और मरसिए लिखे। नवाब आसफ़ुद्दौला के साथ इनके दादा फ़ैजाबाद से लखनऊ आ गये थे। मीर अनीस का जन्म सन् १८०३ में फ़ैजाबाद में ही हुआ था। इनका असली नाम बबर अली था। ये तीन भाई थे और मज़ा ये कि तीनों शायर थे। मीर मेहर अली 'उन्स' नाम से, मीर नवाब अली 'मूनिस' नाम से, और मीर बबर अली 'अनीस' नाम से शायरी करते थे। कहा जाता है कि अनीस को अपनी माँ की तरफ़ से बचपन में शेरो अदब की बड़ी अच्छी तालीम मिली थी। इनके घर की औरतें भी शेर कहने या ख़ूबसूरती से गिरह लगा देने का कमाल रखती थीं। एक बार अनीस ने एक शेर का मिसरा 'ऊला' लिखा—

या रब रसूले पाक की खेती हरी रहे,

इसमें इनके घर से मिसरा 'सानी' जोड़ा गया—

संदल से माँग बच्चों से गोदी भरी रहे।

और इस तरह एक बेहद ख़ूबसूरत शेर की बुनियाद पड़ी जो पूरी तरह से भारतीय संस्कारों के रंग में रँगा हुआ है।

मीर अनीस ने शुरू-शुरू में ग़ज़ल भी लिखी लेकिन जल्दी ही उनकी क़लम मरसियों की तरफ़ मुड़ गई और इसमें उन्होंने वो शोहरत हासिल की कि 'शायरे आज़म' कहे जाने लगे। यह बात नहीं है कि 'अनीस' के पहले मरसियों की ज़िन्दगी नहीं थी। 'मरसिया' उर्दू काव्य की एक विशेष विधा है, जिसमें करुण रस का साम्राज्य रहता है और उसमें किसी दुखद घटना का मार्मिक चित्रण किया जाता है। मरसिए लिखने को किसी हादसे पर लिखे जा सकते है, लेकिन कर्बला में हज़रत हुसैन की शहादत का हादसा इनका सबसे प्रमुख प्रसंग होता है इसीलिए शीआ मजहब में उनकी बड़ी जबरदस्त कीमत होती है। चूँकि लखनऊ एक अरसे तक इमामिया हुक्मरानों की राजधानी रहा, इसलिए मरसियों की फ़सल इस ज़मीन पर ख़ूब फली-फूली। मीर अनीस से पहले वैसे तो बहुत से मरसिया कहने वाले हुए लेकिन उनमें जो स्थान मिर्ज़ा 'दबीर' का है वो और किसी का नहीं। दबीर मियाँ का वक़्त बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर का वक़्त था।

आख़िरी ताजदार वाजिद अली शाह के अहद ता वो दरबारे अवध पर छाए रहे। जाने आलम ने ख़ुद लिखा है—

बचपन से उनके दामे सुख़न में असीर हूँ,
मैं कमसिनी से आशिक़े नज़्मे दबीर हूँ।

बादशाह नसीरुद्दीन हैदर के शासन काल की मशहूर मुहर्रमों में इमामबाड़ों की शाही मजलिसें दबीर ही पढ़ते थे। दरबारी शायर होने के नाते बादशाह बेगम और मलिकाज़मानी के इमामबाड़ों के मिम्बर पर दबीर ही जलवानुमां होते थे, यहाँ तक कि दूर-दूर रियासतों के शीआ रईस उन्हें अज़ादारी के लिए नवेद भेजते थे। रज़ब अली बेग 'सुरूर' ने 'फ़सानए अजायब' में मरसियानिगारों में मिर्ज़ा दबीर तक का जिक्र किया है लेकिन मीर अनीस का नहीं क्योंकि इस वक़्त तक अनीस का कँवल खिलने नहीं पाया था।

अमजद अली शाह की तख़्तनशीनी के बाद मीर अनीस की क़लम का सितारा चमका और फिर तो चढ़ते सूरज की तरह ये जल्दी ही सारे आलम पर छा गये। लाज़िम है कि अनीस और दबीर की एक ज़माने बड़ी ज़बरदस्त टक्कर हुई होगी, क्योंकि कोई किसी से कम नहीं था। इन दोनों में, ख़ास फ़र्क़ ये था कि दबीर की रचनाएँ अरब सभ्यता की लकीर पर थीं तो अनीस ने अपनी रचनाओं को हिन्दुस्तानी जामा पहनाया है। दबीर हुकूमत के शायर थे, उनकी उर्दू, अरबी, फ़ारसी से लदी थी जिसे साहित्यिक प्रतिष्ठा तो प्राप्त हुई लेकिन लोकप्रियता कम मिली अनीस अवाम की जुबान थे, उनकी उर्दू हिन्दुस्तानी ज़ेवरों से सजी थी जिसमें जज़्बातों की ख़ूबसूरती देखते ही बनती है। एक ही विषय, एक ही भाव पर लिखे गये इन दोनों कवियों के बहुत से शेर हैं जैसे—

ज़ेरे क़दमे वालदा फ़िरदौसे बरीं हैं (दबीर)

और

कहते हैं माँ के पाँव के नीचे बहिश्त है (अनीस)

यही नहीं, काफ़िए की पाबन्दी पर भी इन दोनों ने साथ-साथ कलम चलायी है—

एक दिन पैवन्दे ख़ाक होना होगा,
तनहा तनहा लहद में सोना होगा,
इस क़ब्र के परदे का खुला हाल 'दबीर',
जो ओढ़ना होगा वो बिछौना होगा।

× × ×

आगोशे लहद में जबकि सोना होगा,
जुज़ ख़ाक न तकिया न बिछौना होगा,
तनहाई में और कौन होगा 'अनीस',
हम होंगे और क़ब्र का कोना होगा।

मीर अनीस ने मरसियों की शक्ल में उर्दू काव्य को बहुत बड़ी सौग़ात दी। उनकी भावप्रवणता और सादाबयानी ने हमेशा पढ़ने-सुनने वालों का दिल छू लिया और इसी ने उन्हें लोकप्रियता के शिखर पर बिठा दिया। अनीस के काव्य की तीन बड़ी तारीफ़ें हैं—

(1) **हफ़्ज़े मरातिब :** ये ज़िक्रे मुसीबत के वो हिस्से होते हैं जिसमें रिश्तों के बीच बड़े-छोटे या ऊँच-नीच की बातों में सम्बोधन और बातचीत की अदायगी का बड़ा ख़याल रखा गया है और यही वजह है कि उनके 'बैन के बन्द' बड़े मशहूर है जैसे—

रोएँ तो मेरे सर की क़सम दीजियो भाई,
बीमार को छाती से लगा लीजियो भाई,

अय्यामे जुदाई भी गुज़र जाएँगी बेटी,
अल्लाह जो फेरेगा तो फिर आएँगे बेटी।

(2) **महाकात :** किसी भी दृश्य का चित्र प्रस्तुत करने में उन्होंने पूरी सफलता पाई है। अगर गर्मी का ज़िक्र किया है तो ऐसा किया है कि बस पढ़ने से वास्ता है—

शेर उठते न थे धूप के मारे कछार से,
आहू न मुह निकालते थे सब्ज़ाज़ार से,
आईना मेहर का था मुक़द्दर गुबार से,
गरदूँ को तप चढ़ी थी ज़मीं के बुख़ार से
गर्मी से मुज़तरब था ज़माना ज़मीन पर
भुन जाता था जो गिरता था दाना ज़मीन पर।

(3) **वाक़ियानिगारी :** घटनाओं की सच्ची तस्वीर खींच कर रख देने में भी अनीस का कोई जवाब नहीं है।

जिस दम सुनी हुसैन ने ये जांगुज़र सदा,
साबिर अगरचे थे पै कलेजा उलट गया,
हाथों से दिल को थाम के दौड़े बरहना पा,
नारा किया कि ऐ अली अकबर, करूँ मैं क्या,

मिलकर ग़रीब ओ बेकसो तनहा से जाइयो,
आले ज़ईफ़ बाप तो दुनिया से जाइयो।

मीर अनीस जितना अच्छा लिखते थे उतनी ही ख़ूबसूरती से पढ़ते भी थे। अनीस अच्छी शक्ल-सूरत वाले बड़े असरदार आदमी थे, नीचा कुरता, घेरदार, अँगरखा, ढीली मोहरी का पायजामा और घेतला जूता उनका कुल लिबास था जिसमें उनकी टोपी ख़ास हुआ करती थी। उन्होंने हमेशा चौगोशिया हुबाबी टोपी का इस्तेमाल किया जिसके लिए वो मशहूर थे। हैदराबाद दकन में एक बार वहाँ के रईस सर आस्मानजाह बहादुर ने उन्हें दस हज़ार रुपये देकर एक मजलिस पढ़वानी चाही थी मगर ये ज़िद रखी कि अनीस को लखनवी तर्ज़ की टोपी उतार कर हैदराबादी मनसबदारी पगड़ी पहननी पड़ेगी। अनीस अपनी टोपी उतारने के लिए इस शर्त पर राज़ी न हुए और इतनी बड़ी रक़म को ठोकर मारकर चले आए।

बड़े इमामबाड़े के मिम्बर पर जिस वक़्त ये तीनों भाई बैठकर मजलिसें पढ़ते थे वो घड़ी लखनऊ के इतिहास की सुनहरी शान हुआ करती थी। मीर अनीस ने शायरी में अपने भाइयों की भी ख़ूब रहनुमाई की। एक बार का ज़िक्र है कि उनके भाई मीर मूनिस ने एक मरसिया लिखा। उसे कमज़ोर देखकर मीर अनीस ने वह मरसिया उठा कर उसी हौज़ में फेंक दिया जो उनके आँगन में आज भी मौजूद है। फिर उसी रात उन्होंने ३०० बन्द का एक मरसिया लिखकर मूनिस को दे दिया जो बाद में उनके ही नाम से प्रकाशित हुआ।

एक बार का ज़िक्र है कि मीर अनीस अपने मकान पुरानी सब्ज़ी मण्डी से निकलकर तहसीन की मस्जिद में नमाज़ पढ़ने के लिए जा रहे थे। जैसे ही चौक में पहुँचे कि कानों में एक तवायफ़ के गाने की आवाज़ पड़ी—

मुझे आना मिले क्योंकर तेरी महफ़िल में जानाना
तेरा दरबार शाहाना, मेरी सूरत गदायाना।

ग़ज़ल सुनते ही वो पहचान गए कि वह उनके ही भाई मीर मूनिस की लिखी है। उन्हें इसका बेहद रंज और मलाल हुआ। वो फ़ौरन लौटे और भाई को बुलाकर नाराज़गी से समझाने लगे—

"मैंने हमेशा कहा कि ग़ज़ल न कहो, ये क्या कि मीर ख़लीक़ के घराने की ज़बान तायफ़ेदारों के कोठों पर पहुँचे।"

मीर मूनिस इतना शर्मिन्दा हुए कि डर के मारे साफ़-साफ़ इन्कार कर गए कि ये ग़ज़ल मैंने नहीं लिखी। इस पर अनीस साहब ने उस ग़ज़ल को ज्यों का त्यों पढ़ दिया और कहा, "मुझसे क्या बहाना है, क्या मैं अपने घर की ज़बान न

पहचानूंगा ! उन्हें अपनी क़लम और ज़बान की बेइज़्ज़ती बिलकुल बरदाश्त न थी।

अनीस का साहित्य सबसे पहले नवलकिशोर प्रेस के द्वारा ६ जिल्दों में प्रकाशित किया गया फिर मौलाना हैदर अली तबातबायी ने ६ जिल्दें निज़ामी प्रेस बदायूँ से प्रकाशित की। १९१५ में काकोरी के सैयद मंज़ूर अली अलवी ने उनके मरसियों को क्रमानुसार लगाया फिर 'रूहे अनीस' संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें एक ही बहर के उनके मरसिये दर्ज हैं।

मीर अनीस का मक़बरा यादगारे अनीस और अदब है जो लखनऊ शहर के लिए एक गौरव की बात है। इस सादे, छोटे, मगर ख़ूबसूरत रौज़े में उनके मज़ार पर जो पत्थर लगा है उस पर लिखे हुए शेर मुख़्तसर में सब कुछ कह जाते हैं। पहले अनीस का शेर लिखा है—

> ख़ुद नवेदे ज़िन्दगी लाई कज़ा मेरे लिए,
> शम्अ कुश्ता हूँ, फ़ना में है बक़ा मेरे लिए।

फिर नीचे दबीर की तरफ़ से शेर अर्ज़ है—

> आस्मां बे माहो कामिल, सिद्क बे रूहे इला,
> तूरे सीना बे कलीमुल्ला व मिम्बर बे अनीस।

लखनऊ : गोरों की गिरफ़्त में

शम-ए-लखनऊ पर जल मरने वाले सिर्फ़ देशी पतंगे ही नहीं थे, कुछ परवाने सात समन्दर पार से भी आए थे। जनरल मार्टिन से लेकर गवर्नर बटलर तक लखनऊ के क़द्रदान अंग्रेजों का सिलसिला चलता रहा। ये अंग्रेज अफ़सर हिन्दुस्तान में कंपनी सरकार के हाथ मज़बूत करने के लिए योरोप से ढो-ढोकर जहाजों से उतारे गये थे। उनमें नेकदिल भी थे और बदनीयत भी थे। लखनऊ से गुज़रने वाले इस फ़िरंगी कारवां के निशाने क़दम आजादी की आँधी के बाद मिट चले हैं मगर अब भी वो नाम छोटे-बड़ों की ज़बान पर आते हैं और उनकी यादगारें बाक़ी हैं।

नवाब आसफ़ुद्दौला के समय में जनरल मार्टिन के अलावा उनके दो मुँहलगे दोस्त मशहूर हैं : एक कर्नल कॉलिस साहब और दूसरे मेजर फुलर साहब। उनको दरबार में इम्तियाजुद्दौला और इफ़्तख़ारुलमुल्क बहादुर के ख़िताब मिले थे। आसफ़ुद्दौला ने कंपनी सरकार की तरफ़ से भेजे गये नाज़ुक मेहमानों के लिए ही रेज़ीडेंसी की बुनियाद रखी थी। यहाँ मेजर जनरल मार्टिन ने तमाम महल बनवाए और बाग़ लगवाए। सन् १७९५ में उनका दुर्ग जैसा 'लामार्टिनियर पैलेस' बनकर तैयार हो गया जिसमें उनका मक़बरा और विद्यालय है। मार्टिन साहब लखनऊ के ही होकर रहे और इसी मिट्टी में सो गये।

सआदत अली ख़ां के ज़माने में कर्नल जेम्स बेली के लिए एक 'गार्ड ऑफ़ ऑनर' भी क़ायम किया गया जो बेलीगारद के नाम से मशहूर है। कर्नल बेली की तस्वीर लखनऊ म्यूज़ियम में है। उनके समय में रेज़ीडेंसी अच्छी तरह आबाद हो चुकी थी। बादशाह ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के वक़्त से तो योरोपियन लड़कियों ने हरम में पैर रखना शुरू कर दिया था और ये योरोपियन या ऐंग्लो-इंडियन बेगमें विलायती महल के नाम से मशहूर होती थीं और गोमती के किनारे विलायती

नस्ल के दरख़्तों वाले विलायती बाग़ की नींव पड़ी।

ग़ाजीउद्दीन हैदर ने 'मिस सिडनी' ही को मुबारकमहल और 'मिस शार्ट' को सुल्ताना मरियम बेगम बना लिया तो नसीरुद्दीन हैदर के महल में 'मिस वाल्टर्ज' पहुँचकर मख़दरा आलिया के नाम से मशहूर हुईं। उनके ही वक़्त में ईडन और मिस फ़ैनी पार्क्स शाही मेहमान की हैसियत से लखनऊ आई थी। एक ने बादशाह के महलों की जी भरकर सराहना की है तो दूसरी ने भी बादशाह के महलों की दिल खोलकर तारीफ़ें की है। सन् १८२४-२५ में बिशप हेयर साहब लखनऊ पधारे जिनका कहना था, "लखनऊ हमारे 'ड्रेसडन' शहर की तरह है, यहाँ के आदमी बड़े शिष्ट और बड़े अच्छे स्वभाव के है।" नवाब नसीरुद्दीन हैदर के तमाम दोस्त मुसाहिब अंग्रेज थे।

अवध में रेज़ीडेंट रखने का सिलसिला वाजिद अली शाह के वक़्त तक चलता रहा मगर ग़द्र के बाद ही ईस्ट इंडिया कंपनी और रेजीडेंट दोनो ही नाम ख़त्म कर दिये गये और अवध मे ब्रिटिश हुकूमत का दौर शुरू हो गया तब योरोपियन हस्तियों के नाम लखनऊ के साथ जुडने लगे। १८५७ के गद्र मे काम आने वाले सबसे होशियार अंग्रेज अफसर सर हेनरी लारेंस के नाम से हजरतगंज के पीछे 'लारेंस टेरेस' बना। उनकी यादगार रेजीडेंसी में बड़ी आलीशान बनवाई गयी थी। मीर इन्क़लाबियो के हाथों तहस-नहस हो गयी, तब २ जनवरी, १८६४ को सर जार्ज कूपर ने उनकी क़ब्र पर एक खूबसूरत क्रॉस लगवाया जो बेलीगारद के गुलाब चमन में अब भी खड़ा है। जेम्स आउटरम और हेनरी हैवलाक के नाम से हज़रतगंज के बाये-दायें की दो सड़कें समर्पित कर दी गयी और दिलकुशा के बाग में ज़ख़्मी होकर मरने वाले हैवलाक का मजार आलमबाग मे बना दिया गया।

२७ सितंबर, १८५७ के क्रांतिकारियों की गोली खाकर शेर दरवाजे के पास मरने वाले मद्रास रेजीमेंट के अंग्रेज अफ़सर जनरल नील के नाम से 'नील-रोड' के अलावा उस दरवाज़े को भी 'नील-गेट' कर दिया गया। २ अक्तूबर, १८५७ को कर्नल आर० नैपियर ने फ़िलिपि गार्डन बैटरी पर कब्जा किया जिनकी स्मृति में कोणेश्वर महादेव से काकोरी जाने वाली सड़क 'नैपियर स्ट्रीट' कही जाने लगी और आज तक उसके अगल-बगल के मुहल्ले उस नाम से जुड़े हैं। ११ मार्च, १८५८ को बेगम कोठी मे जख़्मी होने वाला मेजर हडसन अगले दिन हयातबख़्श कोठी (अब राज्यपाल-निवास) में मर गया। उनका मजार लामार्टीनियर कालेज के पास बना हुआ है। मेजर बैंक्स साहब लखनऊ के कमिश्नर बनाकर बिठाए गये मगर बेचारे शहर के तिलगों के हाथों रेज़ीडेंसी के भीतर मार डाले गये। नतीजा हुआ कि उनके रेज़ीडेंस गवर्नमेंट हाउस से लेकर कंधारी बाज़ार होती हुई क़ैसर-बाग़ चौराहे तक की सीधी सड़क मेजर बैंक्स रोड हो गयी। सन् १८५८-५९ के

दौर में अंग्रेजी सत्ता के शासन काल के आरम्भ में ही गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग लखनऊ पधारे तो लामार्टीनियर कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल मि० शिलिंग ने एक शानदार सभा आयोजित करके उसमें उन्हें तअल्लुक़ेदार अवध घोषित किया। उन्हीं लार्ड कैनिंग की पूजा में चारबाग़ से रानीगंज, रकाबगंज और राजा बाजार होकर मैडिकल कालेज पहुँचने वाली शहर की सबसे लम्बी 'मिसीसिपी-मिसौरी रोड' चढ़ा दी गयी।

सर जॉर्ज कैम्पबेल जुडीशियल कमिश्नर के बाद चार्ल्स विंग फ़ील्ड साहब सन् १८६० में अवध के चीफ़ कमिश्नर बनकर बहराइच डिवीज़न में लखनऊ आए। उन्होंने ही बनारसी बाग़ के पीछे हैदर कैनाल के उस पार आग़ामीर की कर्बला के पास विंगफ़ील्ड पार्क बनवाया। २७ नवम्बर, १८६० में क्राइस्ट चर्च कालेज बना जिसमें कैप्टन निकॉल हार्डी और कैप्टन बर्नार्ड मैकबे—इन दोनों ग़द्र का ग्रास बनने वाले बहादुरों के मज़ार हैं। उसी मृत्यु-स्थान पर पीतल का स्मृति-चिह्न लगा हुआ है और दूसरे योरोपियन शहीदों की भी क़ब्रें है।

सन् १८६४ में अवध के तअल्लुक़ेदारों ने लार्ड कैनिंग की स्मृति में कैनिंग कॉलेज खोल दिया। सन् १८६७ में सर जॉन लारेंस ने कैसरबाग़ में इस विद्यालय के लिए नवाब वाजिद अली शाह के परीख़ाने के खँडहरों पर एक महलनुमा इमारत की नींव डाली जिसमें कैनिंग कॉलेज चलता रहा। बाद में उसी में मैरिस म्यूज़िक कालेज चलने लगा और उधर क़ैसरबाग़ में मिसेज़ मैरिस ने फल-सब्ज़ी की मंडी के लिए एक शानदार इमारत बनवाई।

३१ मार्च, १९०९ को सर जॉन प्रेस्काट हेवेट लेफ़्टीनेंट गवर्नर यू० पी० ने बेगम क़ुदसियामहल के बादशाह बाग़ में गोमती पार कैनिंग कालेज के नये भवन की नीव डाली जो १७ फ़रवरी, १९११ को तैयार हो गया। उधर हेवेट रोड का पत्थर हुसैनगंज से लाटूश रोड आने वाली सड़क पर लग गया। कैनिंग कॉलेज अब क़ैसरबाग़ से (जहाँ अब राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालय एवं भातखंडे संगीत विद्यालय है) उठकर बादशाह बाग़ आ गया। सन् १९१९ में इसे हिज़ एक्सीलेंसी सर बटलर ने विश्वविद्यालय बना देना चाहा और १२ अगस्त, १९२० को यूनिवर्सिटी की स्थापना का यह प्रस्ताव रखा गया बटलर साहब की प्रेरणा से एवं महमूदाबाद के राजा श्री महमूद अली की कोशिशों से अवध के तअल्लुक़ेदारों ने ७० लाख रुपये दान दिये जिससे सन् १९२१ से लखनऊ विश्वविद्यालय पूरी तरह संचालित हो गया। अवध के अनूठे स्थापत्य के प्रेमी बटलर साहब ने उसी ढंग से यूनिवर्सिटी की इमारतें बनवाईं जो महलों को मात करती हैं।

२ जनवरी, १८६५ में पायोनियर प्रेस की स्थापना इलाहाबाद में करके जॉर्ज एलेन ने पहला दैनिक निकाला। बाद में गवर्नर-जनरल लार्ड लिनलिथगो साहब ने १६ दिसम्बर, १९३६ को लखनऊ में पायनियर प्रेस के भव्य भवन का

शिलान्यास किया और ये प्रसिद्ध दैनिक लखनऊ से निकलने लगा। सन् १८६६ में इलाहाबाद के हाकिम लार्ड मेयो के वक़्त में ड्यूक आफ़ एडिनबरा साहब लखनऊ पधारे। उसी वर्ष सन् १८६६ में श्री रेवरेंड मेसयोर और रेवरेंड ब्रैडली द्वारा 'रोड-क्रिश्चियन कॉलेज' स्थापित किया गया। बाद में सन् १६३१ में इसके नाम से 'रोड' शब्द हटा दिया गया। उस क्रिश्चियन कॉलेज के भव्य भवन के गुम्बद ख़ुर्शीद ज़ादी मक़बरे की अनुकृति एक वर्ष बाद सन् १८७० में अमेरिकी मिशनरी महिला कुमारी ईसाबेला थाबर्न ने लखनऊ में अपने नाम पर आई० टी० कॉलेज स्थापित किया जिसके भवन का स्थापत्य नसीरुद्दीन हैदर की तारावली कोठी की तर्ज़ पर है।

७ जनवरी, १८७६ को प्रिंस आफ वेल्स लखनऊ पधारे। यह वायसराय लार्ड नार्थ ग्रो का ज़माना था। प्रिंस ऑफ़ वेल्स साहब ने बेलीगारद गेट के पूर्व में एक ऊँची दीवार की बुनियाद रखी जिससे रेज़ीडेंसी की सुरक्षा हो सके। उन्होंने ही हिज़लेट मैजेस्टी किंग एडवर्ड सप्तम की एक बड़ी ख़ूबसूरत पेंटिंग प्रदान की थी जो बहुत दिनों तक क़ैसरबाग़ बारादरी की शोभा बढ़ाती रही मगर अब वो वहाँ से हटाई जा चुकी है। सन् १८७८ में क़ैसरबाग़ में सर जॉन लारेंस द्वारा बनवायी गयी बारादरी के निकट की इमारतें तैयार हो गयीं और इसके साथ ही क़ैसरबाग़ सर्कस बनवाया जाने लगा। बाद में पहली महलनुमा इमारत में महमूदाबाद के राजा की उपाधि अमीरुद्दौला का नाम जोड़कर एक लाइब्रेरी अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित कर दी गयी।

सन् १८८१ में नारमन टी० हार्स फोर्ड के प्रस्ताव पर मुहम्मद अली शाह बादशाह के सबसे धनी ट्रस्ट हुसैनाबाद ट्रस्ट से ख़र्च लेकर हुसैनाबाद का घंटाघर बनवाया गया जो भारत में सबसे ऊँचा और शानदार घंटाघर माना जाता है।

सन् १८६६ में कर्नल ब्रूस साहब ने मोतीमहल का पुल बनवाया। वह 'ब्रूस ब्रिज' बाद में 'मंकी ब्रिज' के नाम से मशहूर हुआ क्योंकि हरदम उस पर बदरों की धूम रहा करती थी। सन् १८६२ में ८ नवम्बर की शाम सर आर्कलैंड ने 'पायनियर' पत्र प्रकाशित किया। कॉल्विन लेफ़्टिनेंट गवर्नर चीफ़ कमिश्नर अवध ने ऐशबाग़ के पानीघर की नींव रखी और २१ जुलाई, १८६४ को चार्ल्स क्रास्थवेट साहब ने ऐशबाग़ का पंप खोल दिया। कॉल्विन साहब ने ही गोमती के किनारे लक्ष्मण टीले पर पहले पंपिंग स्टेशन की नींव रखी थी जिसके बहुत बाद में गऊघाट पर एक बड़ा और शानदार पंपिंग स्टेशन बनवाया गया। सन् १६०१ की पहली अप्रैल को हुसैनाबाद ट्रस्ट के लिए श्री आर० जी० हार्डी स्क्वायर ने वाटर वर्क्स खोला। सन् १६०२ में सिकदरबाग़ से चक्करवाली कोठी तक एक गर्डर ब्रिज बनवाया गया जो 'काठ का पुल' कहा जाता था। इसी के क़रीब सन् १६१२ से १६१३ के बीच सुल्तानगंज का बाँध बनकर तैयार हुआ जिसे 'बटलर बाँध'

भी कहते हैं। सन् १९११ में ब्रिटिश हुक्मरानों ने क़िला मच्छीभवन और हुस्न-बाग़ के दौलतसरा सुल्तानी के बीच वाले आसफ़ुद्दौला के शाही पुल को तुड़वा दिया और लक्ष्मण टीले के पास एक आलीशान पुल बनवाया। बड़े इमामबाड़े के निकट बनवाए गये इस मज़बूत पुल का स्थापत्य देखने योग्य है। जिसमें निकट के भव्य भवनों से तालमेल बिठाकर एक सुरुचिपूर्ण नमूना प्रस्तुत किया गया है। १० जनवरी, १९१४ को हार्डिंग्स साहब ने इसका उद्घाटन किया था।

सन् १८८३ में लखनऊ वालों ने ड्यूक ऑफ़ कनॉट साहब की मेहमानदारी की। सन् १८९० की १८ जनवरी की हिज़ राय हाईनेस किंस अलबर्ट विक्टर ने रेज़ीडेंसी के पीछे एक अस्पताल क़ायम किया। उसी के सामने क्रिश्चियन कॉलेज के पीछे ५ अप्रैल, १८९९ को हर एक्सीलेंसी मार्कोलिस ऑफ़ लैंसडाउन ने एक जनाने डफ़रिन अस्पताल की नींव रख दी। मुख्य अस्पताल में सन् १९०२ में महा-राजा बलरामपुर ने एक नया वार्ड बनवाकर जोड़ दिया। उस वक़्त कर्नल डॉक्टर जे० हंडरसन साहब उस अस्पताल के सिविल सर्जन थे। अंग्रेज़ों की दोस्ती राजा साहब बलरामपुर ख़ुर्शीद बाग़ वालों के काम आई कि अस्पताल का सारा सेहरा उनके सर बँधा और आज तक बलरामपुर अस्पताल के नाम से प्रसिद्ध है।

सन् १८९९ में १३ दिसम्बर के दिन वायसराय लार्ड कर्जन ने गोल्फ़ फ़ील्ड के पास मार्टिन पार्क में अवध के तअल्लुक़ेदारों की मदद से एक शानदार ब्रिटिश दरबार आयोजित किया था। उन्होंने ही उजड़ी हुई रेज़ीडेंसी को फिर से सजा-सँवार कर नयी दुल्हन बनाया मगर वो अब तक दुल्हन का जनाज़ा बनी हुई है।

सन् १८७० में गोरे अफ़सरों के चमचे शाहगंज के राजा मानसिंह परलोक-वासी हुए तो ३२ बरस बाद उनके गौरांग मित्रों ने उनकी ख़बर ली यानी १३ अगस्त, १९०२ में राजा मानसिंह की संगमरमर की मूर्ति क़ैसरबाग़ में तअल्लुक़े-दारों वाली बारादरी मे लगवाई गयी जो अब भी मौजूद है। इनके संगी-साथी जो स्फटिक प्रतिमाओं के रूप में सर जॉन बुडवर्न, सर एण्टोनी मेक्डानल तथा मेजर जनरल बैरी चीफ़ कमिश्नर अवध थे, क़ैसरबाग़ बारादरी से आज़ादी के बाद निकाल बाहर किये गये और अब ये ख़ूबसूरत बुत पुलिस लाइन के मैदान की हवा खा रहे हैं। मृत राजा मानसिंह को इस प्रकार सम्मान देकर हिन्दुस्तानी जनता को बेवक़ूफ़ बनाने की चालाकी सर जेम्स डिगीज लाटूश के० सी० एस० आई० लेफ़्टिनेंट गवर्नर यूनाइटेड प्राविन्सेज़ आगरा और अवध के द्वारा की गयी थी। लाटूश साहब कितने चालाक रहे होंगे इसका अंदाजा 'लाटूश रोड' नाम से लगाया जा सकता है।

सन् १९०५ में प्रिंस ऑफ़ वेल्स साहब मेरी प्रिंस ऑफ़ वेल्स के साथ लखनऊ आए। उन्होंने 'बड़ा दिन' यहीं मनाया। उसके अगले रोज़ उसी ख़ुशी के आलम में २७ दिसम्बर को किंग जॉर्ज अस्पताल की नींव रख दी। उन्हीं के नाम से

'प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूजियम ज़ू' बना और 'प्रिंस थियेटर' बना। बंबई के गवर्नर एलफ़िंस्टन साहब के नाम से एक दूसरा थियेटर बना जो अब 'आनन्द' बन चुका है। किंग जॉर्ज अस्पताल के लिए लखनऊ के शेख़ज़ादों के पुराने क़िले मच्छीभवन के खँडहरो और उसके आस-पास की नीम वाली बगिया को उसके मालिक नवाब यहिया अली ख़ां से सर हेनरी लारेंस ५० हज़ार रुपये में पहले ही ख़रीद चुके थे जो अब काम आई। २५ जनवरी, १६१२ को सर जॉन प्रेस्काट हीवेट साहब ने इस आलीशान अस्पताल का विधिवत उद्‌घाटन किया। किंग जॉर्ज मेडिकल कॉलेज के भवन की योजना लखनऊ भवन निर्माण कला के सच्चे प्रेमी विदेशी अभियंताओं ने बनाई जिन्होंने 'पंचमहल' और 'मुबारकमहल' व खँडहरों पर उनका ध्यान रखते हुए एडमिनिस्ट्रेटिव ब्लाक, मुख्य भवन और आउट डोर, ई० न० टी० के भव्य भवन बनवाए जिनमें मनमाने संशोधन करके अधिकारी उनकी ख़ूब दुर्गति कर रहे हैं।

मेडिकल कॉलेज के पास से पुराने लखनऊ में से होकर तालकटोरा जाने वाली सड़क को विक्टोरिया स्ट्रीट कहा जाने लगा। मेंहदीगंज के क़रीब इसके इर्द-गिर्द के मुहल्लों को विक्टोरियागंज का नाम दिया गया मगर आधी जनता ने उसे टूड़ियागंज कहना पसंद किया क्योंकि महारानी विक्टोरिया अवाम में 'मलिका टूड़िया' के नाम से मशहूर थी। चौक के प्रसिद्ध महल, मंदिर और कुछ कोठियों का अंग्रेज़ों ने अपनी कूटनीति के अंतर्गत सफ़ाया कर दिया जिससे वहाँ उनकी साख़ जम सके और उस मैदान को बाग़ बनाकर ईस्ट इंडिया कंपनी की याद में उसे कंपनी बाग़ कह दिया। गोल दरवाज़े के पास चौराहा बनवा दिया। मछली वाली बारादरी गिरा के चौक की कोतवाली क़ायम कर दी। कंपनी बाग़ में एक सुरमई रंग की मलिका विक्टोरिया की मूर्ति लगवा दी जिसके टक्कर की मूर्ति जॉर्ज पंचम की बनी थी और बड़े डाकख़ाने के सामने लगवाई गयी थी जिसे 'बादशाह पार्क' कहा जाता है। २ अप्रैल, १६०८ को छतरमंज़िल के क़रीब एक पार्क में ख़ूबसूरत संगमरमर की छतरी के नीचे महारानी विक्टोरिया की एक अति सुन्दर दुग्ध धवल प्रतिमा स्थापित की गयी और उसे 'विक्टोरिया मैमोरियल पार्क' की संज्ञा दी गयी। विक्टोरिया के शाही फ़रमान का मुँहतोड़ जवाब देने वाली बेगम हज़रतमहल की रूह जब उनकी रूह से जीत गयी तो वो पार्क हज़रत-महल की मिल्कियत बन गया और विक्टोरिया की वह भव्य प्रतिमा राजकीय संग्रहालय की शोभा बढ़ाने चली गयी।

सन् १६०५ में रेज़ीडेंसी के मॉडल रूम में एक पत्थर लगा दिया गया जिससे ब्रिगेडियर इंग्लिश की बीवी का नाम अमर हो जाए जिसने ब्रिटिश फ़ौज के जख़्मी सिपाहियों की ख़िदमतें की थीं। इसी रेज़ीडेंसी में तमाम ईसाई शहीदों की यादगारें हैं। सन् १६०६ में सिटी मजिस्ट्रेट मि० एल० एम० जापलिंग की माँ ने

शाह नजफ़ वाली मशहूर पेंटिग्स बनाई और 'जापलिंग रोड' को नाम मिला। सन् १६११ में सिकंदरबाग़ में काम आए अंग्रेज शहीदों के नाम पर ग्रेनाइट का एक स्मारक बनवाया गया। इसी सन् १६११ में लखनऊ आर्ट कॉलेज की स्थापना हुई। फ़रवरी, १६१५ में बटलर साहब ने राजा महमूदाबाद के शाही महल की नींव रखी जो बाद में 'बटलर पैलेस' ही कहा जाने लगा। बटलर साहब की स्मृति में अवध के तअल्लुक़ेदारों ने बटलर पार्क में धातु की बनी हुई एक भव्य घुड़सवार-प्रतिमा लगवाई जो अब पुलिस लाइन पहुँचा दी गयी है। उधर कॉल्विन साहब चीफ़ कमिश्नर अवध का नाम ज़िंदा रखने के लिए तअल्लुक़ेदारों ने कॉल्विन कॉलेज कैनिंग कॉलेज के समानान्तर बनवा दिया।

चारमहल और चारबाग़ के हक़दार नवाबों को मौलवीगंज में पुरानी इमली का इलाक़ा मुआवज़े में देकर रेल लाइन बिछा दी गयी जहाँ २१ मार्च, १६१४ को बिशप साहब ने रेलवे स्टेशन चारबाग़ की नींव डाल दी। (जैसे हिन्दुस्तान में सबसे पहले रेल सन् १८५३ में चली थी) चारबाग़ स्टेशन का राजपूती स्थापत्य का भव्य भवन आज भी लखनऊ को चार चाँद लगा रहा है। सर हरकोर्ट बटलर के प्रयास से ही मिर्ज़ापुरी पत्थर से लखनऊ कौंसिल चैम्बर की आलीशान इमारत बनवाई गयी जो सन् १६२८ में बनकर तैयार हुई। इस भवन पर १८ लाख रुपये उस समय ख़र्च किये गये थे जिसका अधिकांश बोझ अवध के तअल्लुक़ेदारों ने उठाया था। देवी-देवताओं की प्रतिमा से सजे विभिन्न आयुधों से मंडित द्वार, तोरण वाले विशाल गुम्बद और ऊँची छतरी वाले इस भवन की शान ही निराली है। इसके साथ ही बड़े डाकख़ाने, रेलवे आफ़िस, तारघर आफ़िस आदि इमारतें बनीं।

ये अंग्रेजी ऐतिहासिक भवन नगर भर में बिखरे पड़े हैं जो अब हिंदोस्तानी जामा पहन चुके हैं। इनके अलावा मामू-भांजे के मज़ार के पास कल्लन की लाट, कोठी रौशनुद्दौला के सामने बीबी मरियम का रौज़ा जैसे स्मारक पड़े हैं। मोती-महल, मार्टिन मक़बरा, ख़ुर्शीद मंज़िल, दिलकुशा, सिकंदरबाग़ की दीवारों पर अंग्रेज़ी जुमले लिखे पड़े हैं। उस दास्तान के टूटे टुकड़े लखनऊ के इर्द-गिर्द मूसाबाग़, इस्माइलगज, चनहट, निशातगंज, मड़ियाँव, बनी, बंथरा आदि स्थानों पर हुए ग़द्र की गवाही दे रहे है। लखनऊ के गोरे आशिक़ों ने शहर की बड़ी क़द्र की है। मेजर बर्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लखनऊ को 'हिन्दुतान का चमन' लिखा है।

क़िस्सा क़िस्सागोई का

जिस ज़माने में लखनऊ का सिबतैनाबाद हज़रतगंज में ढल रहा था, जहाँ फ़िरंगी चहलक़दमी करने लगे थे, उन्ही दिनों कलकत्ता के मटियाबुर्ज में एक नया सिबतैनाबाद अँगड़ाई ले रहा था।

सिबतैनाबाद क्या था छोटा-मोटा लखनऊ था। वही अन्दाज़, वही रंग, वही लोग, वैसी ही इमारतें और हुबहू वही नाम—शहंशाह मंज़िल, नूर मंज़िल, कस्र उल बका, सुल्तान मंज़िल, बारादरी और इमामबाड़े···

गुज़रे हुए कल के बादशाह लखनऊ से आये तो वज़ीर, बेगमें, मुंशी, मुसाहिब, कारीगर-कारिंदे, साज़ वाले, आवाज़ वाले—सब लखनऊ से ढो लाये गये थे···इन्सान क्या दरिंदे-परिंदे तक शहर लखनऊ से लाकर पाले गये थे, गोमती की बहन गंगा के किनारे पर।

ये उसी सिबतैनाबाद की कहानी है···

सब ऐशो आराइश होते हुए भी बेताज़ के बादशाह अंगारों पर लोट रहे थे। साज़ो रक्श भी उनके जलते दिल के ज़ख़्म भर सकने में नाकाम रहा करते थे।

अचानक नवाब को एक दिन ख़बर मिली कि शाहे दिल्ली बहादुरशाह 'ज़फ़र' को तख़्त से उतार कर ब्रिटिश हुकूमत ने रंगून रवाना कर दिया है, जिनका जहाज़ आज हुगली के दहाने से गुज़रेगा।

जाने आलम को लगा, जैसे उनका कोई हमदम उनके हमराह आ रहा है। बेचैन होकर तड़प उठे, और एक दावतनामा वायसराय बहादुर के मारफ़त बादशाह को भिजवा दिया। ज़ाहिर था कि इस क़दर सितमज़दा आदमी वक़्ते गर्दिश में घड़ी भर से ज़्यादा ठहरना कब पसंद करेगा, इसलिए ज़फ़र ने दावत से तो इनकार कर दिया मगर मुलाक़ात को मंज़ूर कर लिया।

जब जहाज़ मटियाबुर्ज के क़रीब से गुजरा तो आख़िरी शाहें मुग़ल ने दरियाए हुगली में लंगर डलवा दिया और कुछ मिनटों के लिए सिबतैनाबाद में तशरीफ़ ले आये।

एक अजीब मंज़र था मुलाक़ात का। आमने-सामने दो बिगड़े हुए नसीब खड़े थे। ताजदारे अवध ने शहंशाहे दिल्ली को सलाम अर्ज़ किया तो लुटी हुई बादशाहत ने मिटी हुई नवाबी को गले से लगा लिया, जैसे यमुना और गोमती का संगम हो रहा हो और वह भी गंगा के किनारे।

वाजिद अली शाह ने नज़र में याक़ूत की अँगूठी दी तो शाहे जफ़र ने जवाब में ज़ुमुर्रुद की तसबीह उन्हें अता फ़रमाई।

वक़्त ने इस इन्द्रधनुषी मुलाक़ात के इस जज़्बाती दौर को ज़्यादा देर टिकने न दिया और वह शाही शायर उस शाही गुलूकार की बाँहों से जुदा हो गया।

नवाब सुल्तान मंज़िल में पड़े करवटें बदल रहे थे। नींद ने उन पर अपना साया भी न फटकने दिया। तब सोचा, किसी क़िस्सागो को बुलायें तो किसी सूरत रात कटे।

ख़ादिम ने लखनऊ के एक शीरीं सुख़न गुचादहन नवाबज़ादे को लाकर पेश किया।

उस युसूफ़ चेहरा ने झुककर सलाम बजाया।

बादशाह ने ख़ुश होकर बेतकल्लुफ़ी से उसे अपने बिस्तर पर बैठ जाने को कहा।

"भई, कोई क़िस्सा कहो प्यारे मियाँ, जो हक़ीक़त से अफ़साना हो।" पिया जाने आलम की तबीयत का रुख़ देखकर अगर-लोबान से महकती झिलमिली, झाड़ों की मद्धिम रोशनी में उस नौजवान ने कहानी छेड़ दी—

एक ज़माने में सात समुन्दर पार का रहने वाला एक ज़ालिम बादशाह परिंदों का बड़ा शौक़ीन था। ख़ुदा जाने किसलिए एक से एक पंछी लाकर वह अपने रंगमहल के पिंजड़ों में बन्द करता रहा।···

एक दिन उसी शौक से मुब्तला होकर अपने मुसाहिबों के साथ वह शख़्स दूर बड़ी दूर हवाख़ोरी को गया।···

तो क्या देखता है, कि बड़ा ख़ूबसूरत नज़ारा है, बहार का इशारा है, दरिया की रवानी है मोती जैसा पानी है, फूल महकते हैं और परिंदे चहकते हैं।···

उसी बीच तमाम चिड़ियों का दस्ता न जाने किस सिम्त से आन पहुँचा। अनगिनत चिड़ियों में एक परिंदा, अजीबोग़रीब कि न देखा न सुना, यानी रंग लाजवाब, ख़ूबसूरत बेहिसाब, पहाड़ी के ऊपर आ बैठा, तो सारे परिंदे उसे घेर के उसके गिर्द बैठ गये और उसका ओहदा बमुताबिक़ शाने हस्ती बुलन्द बना

रहा।···

वो बादशाह मुर्ग़बाज़ उस परिंदे की वजाअत पर लहालोट हो गया, बोला—'इसे लिए बिना न लौटूँगा।···'

मुसाहिब ख़ास ने समझाया—'मगर इसे पाना नामुमकिन है।' बादशाह ने जवाब दिया—'कोई सूरत निकालो, मैं छोड़ूँगा नहीं।' मुसाहिबों ने कहा—'इस बार नहीं, अगली बहार में कोशिश करेंगे।' ग़रज ये कि सब लौट गये।···

मुसाहिब लोग अगली बहार में पहले से ही मंसूबे बनाने लगे और तमाम दौलत इन्तज़ाम में लगाने लगे।···

फ़स्ले बहार आयी तो शाही दस्ते ने भी कूच किया। ठीक उसी मक़ाम पर आकर वह बेनज़ीर परिंदा फिर बलंदी पर बैठा और उसके परिस्तार हज़ार परिंदे उसके हुज़ूर में हाज़िर रहे।···

मुसाहिबों ने दूर-दूर तक मैदान में अनाज के दाने, सूखे मेवे, ताजे फल और गोश्त के टुकड़े बिखरा दिये मगर उन चिड़ियों की तबीयत में कोई बदल न आया। जिस सूरत आयी थीं अपने सरताज़ के साथ उसी तरह लौट गयीं।···

बादशाह बेहद मायूस हुआ और उन सबों पर सख़्त नाराज़ हुआ। मुसाहिबों ने फिर सब बँधाया—'हुज़ूर, इस बार न सही अगली बार देखेंगे।'···

वक़्त आया, साल गुज़रा, फिर वही बहार के दिन, फिर वही ज़माना आया और फिर वो शाही शिकारी अपने चारागरों के साथ वहीं पहुँचा।···

इस बार जब ख़ुराक़ का सामान ज़मीन पर बिछा तो कुछ-एक परिंदे, गोश्तख़ोर, पहाड़ी से उतर आये। अपनी ग़िज़ा खाकर मस्त हो गये मगर बाक़ी वही उस शाहानी मुर्ग़ के क़रीब जमे रहे, इसलिए कुछ बस न चला और परिंदा हाथ न लगा।···

बादशाह जामे से बाहर हो गया, मगर दीवानों ने फिर समझा लिया—'देखते जाइए, बेसब्र न हों सरकार!···

अगली बहार में फिर वही नक़्शा हुआ। इस बार जब रसद का जाल बिछा तो देखते है कि गोश्तख़ोर गोश्त पर टूट रहे हैं, मेवाख़ोर मेवे के मज़े लूट रहे हैं और अनाजख़ोर हैं कि दाना चुगने मे लगे हैं।···

इसी बीच एक चालाक चिड़ीमार ने आगे बढ़कर, पहाड़ी पर चढ़कर वो नायाब पंछी पकड़ लिया और बादशाह के हवाले कर दिया।···

बड़े बेक़रार होके अख़्तर मियाँ ने पूछा—'मगर प्यारे जानी, ये क्यूँकर हुआ?'

नवाबज़ादा बोला—'ऐ हुज़ूर, पहली बार सारे परिंदे अपने मालिक की हिफ़ाज़त में तैनात थे, दूसरी बार उन्होंने सामने कैफ़ का नक़्शा देखा मगर

सब्रदार रहे क्योंकि वफ़ादार और नमकख़ार रहे, तीसरी बार चंद हरामख़ोरों ने मज़ा लूटने में, खाने-पीने में रिश्तए ईमान तोड़ा मगर हलालख़ोरों ने साथ न छोड़ा, मगर आली हज़रत, चौथी बार सब बेवफ़ाई कर गये—क्या मादा क्या नर, सब निस्बत से मुकर गये !···और वो ग़रीब मुर्ग़े-नातवाँ क़ैद हो गया ।'

इतना सुनना था कि वाजिद अली शाह नवाबजादे के गले से लिपटकर रोने लगे—

"हाय, यही मेरे साथ हुआ !"